ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

प्रभु-भक्ति

(संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण)

लेखक

खुशहालचन्द

प्रधान, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, सिंध, बलोचिस्तान, लाहौर।

संचालक—दैनिक मिलाप तथा हिन्दी मिलाप लाहौर।

चतुर्थावृत्ति] सम्वत २००३—सन् १९४६ [मूल्य १)

समर्पण

क्या समर्पण करूं ? कुछ हो मेरे पास तब तो। मेरे पास तो कुछ भी नहीं। मेरा शरीर भी तो मेरा नहीं, यह भी तो तेरा ही मन्दिर है। फिर क्या अर्पण करूँ मेरे प्रियतम! क्या यह विचार-माला? क्या यह मेरी है? प्रभु तू जानता है कि यह तेरा ही कृपा का प्रसाद है, फिर यह तेरा ही प्रसाद तुझे समर्पण करने में मेरा क्या लगता है—

मेरा मुझको कुछ नहीं,
जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते,
क्या लागत है मोर॥

स्वीकार कीजिए इस अपने आपको—

सेन्ट्रल जेल, गुलबर्गा,
पहली वैशाख, १९९६

तेरे भक्तों की चरण-रज,
—खुशहालचन्द

उपहार

पितेव नः शृणुहि हूयमानः । ऋग्वेद
जब भी तुम्हें पुकारा जाए तभी पिता के समान हमारी टेर सुन।

पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ।
पिता बन कर हम पुत्रों को प्यार कर।

अनपराद्धास्ते सख्ये स्याम ।
हम तेरी मित्रता में कभी चूके न हों।

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा
सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । यजु ॥
ज्ञानी पुरुष उस सत् ब्रह्म को हृदय की गुहा में छिपा हुआ देखता है

क्रम

ओ३म्

प्रस्तावना

एक विद्वान् का कहना है कि मनुष्य को अपना जीवन संसार में इस ढङ्ग से व्यतीत करना चाहिये कि जब वह दुनिया को छोड़े तो दुनिया का जितना हर्ष-समुदाय है, जगत् के उल्लास का जितना जोड़ है, उसमें कुछ वृद्धि कर के जाना चाहिये। यदि हम वृद्धि करके जाते हैं तो समझ लो कि हमने धर्म का जीवन व्यतीत किया, परन्तु यदि हम दुनिया की हर्ष की मात्रा को कम और शोक की मात्रा बढ़ाकर दुनिया को छोड़ते हैं, तो सभी स्वीकार करेंगे कि हमने धार्मिकता का जीवन व्यतीत नहीं किया। धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक है कि उसकी तय्यारी की जाय। कोई काम तय्यारी किये बिना नहीं हुआ करता, इसलिये उसकी तय्यारी करनी ही होगी। तय्यारी का उपाय यह है कि एक मनुष्य की हैसियत से हमें सोचना चाहिए कि हमारे कर्त्तव्य क्या हैं। यदि हम उन्हें समझकर उन्हें पूरा करने का यत्न करेंगे, तो यह, न केवल तय्यारी होगी अपितु तय्यारी के साथ 'हर्ष की मात्रा में वृद्धि' इस उद्देश्य की पूर्त्ति का क्रियात्मक साधन भी होगा।

मनुष्य के कर्त्तव्य—

मनुष्य के कर्त्तव्य संक्षिप्त रीति से यदि कहा जाय तो तीन भागों में विभक्त हो सकते हैं। वे विभाग ये हैं—

१ मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनने के लिए, अपने सम्बन्ध में क्या करना चाहिये।

२. दूसरे प्राणियों के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है।

३ ईश्वर के सम्बन्ध में उसे क्या करना चाहिये।

इन्हीं को दूसरे शब्दों में (१) शारीरिक, (२) सामाजिक, (३) और आत्मिक उन्नति कहते हैं। कर्त्तव्य के इन विभागों का कुछ विवरण देना उचित है, जिससे सभी को उनका ज्ञान हो सके—

कर्त्तव्य का पहला विभाग—

पहला कर्त्तव्य—इस विभाग में मनुष्य को अपने सम्बन्ध में क्या करना चाहिये इस पर विचार करना होगा। इन्हीं का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—(१) पहला कर्त्तव्य, अपनी इन्द्रियों को बलवान् बनाना है। मनुष्य का बाह्य स्थूल-शरीर पाँव से सिर तक इन्द्रियमय है। फलतः इन्द्रियों को बलवान बनाने के अर्थ यह हुए कि बाह्य शरीर को बलवान् बनाना। शारीरिक-बल प्राप्त करने की प्रत्येक को इतनी चिन्ता रहती थी कि चार आश्रमों में से पहले आश्रम में विद्याध्ययन के सिवा ब्रह्मचर्य के द्वारा अपने को बलवान् बनाना मुख्य कर्त्तव्य था। इस देश की माताएँ यदि उनसे निर्बल सन्तान पैदा हो जाय तो उसे अपने लिये पातक समझती थीं। महाभारत में एक जगह आता है कि सात ऋषि जिनमें अरुन्धती नाम वाली एक ऋषिका भी थी यात्रा कर रहे थे। एक सरोवर से कमल के डंठल तोड़ कर उन्होंने एक जगह रखे परन्तु उन्हें वहाँ से कोई उठा ले गया। जब ले जाने वाला कोई दिखाई नहीं दिया तो फिर एक दूसरे पर सन्देह होने पर यह ठहरा कि प्रत्येक अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये कसम खाये। इस मौके पर देवी अरुन्धती की कसम यह थी—"अबलेऽवीर-सुतत्वं विन्दते करोति च"। अर्थात् जो पाप माता को अनाचार करने और निर्बल सन्तान पैदा करने से लगता है, वही उसको लगे

जिसने इन डठलों को चुराया हो। स्पष्ट है कि उस समय माताये निर्बल सन्तान पैदा करने को, अनाचार और चोरी करने जैसा घातक समझती थीं। इसलिये निर्बलता को घातक समझते हुए, शारीरिकोन्नति प्रत्येक को करनी चाहिये।

दूसरा कर्त्तव्य—अपने को पवित्र बनाना है। पवित्रता से बल का दुरुपयोग नहीं हुआ करता। इन्द्रिय और मन मे, पवित्रता का सचार होने से मनुष्य सदाचारी बना करता है। पवित्रता के लिये मन का शुद्ध होना अनिवार्य्य है। मन शुद्ध-अन्न के सेवन और सत्य के क्रियात्मक प्रयोग से शुद्ध हुआ करता है। छल और कपट से पैदा किया हुआ अन्न, मन को दूषित कर दिया करता है। सस्कृत में कहावत है—"यथा अन्न तथा मन"।

तीसरा कर्त्तव्य—अपने को अच्छा बनाने के लिये मनुष्य का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अपने अन्दर श्रद्धा के भाव पैदा करे।

श्रद्धा, यास्काचार्य के निर्वचनानुसार, "श्रत् सत्य दधाति या सा श्रद्धा" सचाई का धारण करना है। सचाई का ज्ञान रखने से मनुष्य सचाई पर अमल करने के लिए बाधित नहीं होता, परन्तु सचाई के धारण कर लेने, अर्थात् स्वाद चखने के सदृश, उसके अनुभव कर लेने से, वह उस सचाई के विरुद्ध अचम्भा कर सकने के लिये मजबूर हो जाता है।

कर्त्तव्य का दूसरा विभाग—

मनुष्य को दूसरों के प्रति क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में उसके कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—

१ अपने हृदय में उसे किसी के लिए भी, ईर्ष्या और द्वेष के भाव नहीं रखने चाहिए। ऐसे भावों के रखने से किसी दूसरे को हानि हो या न हो, यह तो सदिग्ध है, किन्तु यह निश्चित है कि इनसे उस

का हृदय मलिन होकर किन्हीं अच्छी बातों के सोचने और विचारने के योग्य नहीं रहता।

२. मनुष्य नास्तिक हुए बिना किसी दूसरे को तकलीफ नहीं दे सकता। ईश्वर व्यापकत्व से सभी मनुष्यों के "शरीरों में व्याप्त" रहता है। जब प्रत्येक प्राणी के शरीर में ईश्वर मौजूद है, तब उसका निरादर किये बिना कैसे उसके निवास-मन्दिर को कोई तोड़-फोड़ सकता है? यही निरादर तो नास्तिकता है।

३. मनुष्य को दूसरों की भी उतनी ही चिन्ता करनी चाहिये जितनी कि वह अपनी करता है। उसे अच्छी तरह से यह समझ लेना चाहिए कि अपनी उन्नति का रहस्य अन्यों की उन्नति में छिपा हुआ है।

कर्तव्य का तीसरा विभाग—

१. ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-विश्वास से मनुष्य अपनी आत्मा को बलवान् बना सकता है। ईश्वर के जानने के लिए, अपने को पहले जान लेना आवश्यक है। क्यों? इसलिये कि ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति इन्द्रियों के द्वारा नहीं हुआ करती। इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने बाह्य नियमों की ओर है और इसीलिए वे अपने बाह्य विषयों के सिवा अन्य कुछ नहीं देख सकतीं और इसीलिए उन्हें बहिर्मुखी कहा जाता है। इसके विपरीत आत्मा अन्तर्मुखी होने से अपने को भी देख सकता है और अपने भीतर मौजूद परमात्मा को भी देख सकता है। यदि वह अपने को नहीं देख (जान) सकता होता तो फिर परमात्मा को किस प्रकार देख सकता? इसीलिए अपने को जान लेने की शिक्षा, विद्वान्, जगत् के प्रारम्भ से अब तक बराबर देते चले आ रहे हैं। "Know they self" प्रसिद्ध कहावत है। स्पिनोज़ा ने एक जगह लिखा है कि 'जिस व्यक्ति को अपना और अपनी भावनाओं का ज्ञान है, उसके लिए स्वीकार करना पड़ेगा,

कि वह परमात्मा से प्रेम करता है।" जब हम कहते हैं कि परमात्मा का ज्ञान हमें है तो इसका केवल इतना ही अभिप्राय होता है कि हम उसे इतना जानते हैं, जो हमारे कल्याण के लिये आवश्यक है। उसे ठीक-ठीक जान लेना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। एक उर्दू के कवि ने लिखा है और बहुत अच्छा लिखा है—

क्या तुरफ़ा है खूबी मेरे महबूब की देखो।
दिल में तो वह आता है, समझ में नहीं आता॥

हमें क्यों उसे जानने अथवा उससे प्रेम करने की जरूरत है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

संसार में शान्ति, मनुष्यों में भ्रातृ-भाव, बिला लिहाज रंग, नस्ल और देश के समस्त देशवासियों को प्रेम के एक उत्कृष्ट सूत्र में बाँधे रखने का कारण और एकमात्र कारण, वास्तविक आस्तिकता है। वेद में इस बात को असन्दिग्ध शब्दों में कहा गया है कि "इस पृथिवी पर बसने वाले समस्त मनुष्यों का एक विशाल परिवार है, जिसमें न कोई छोटा है न कोई बड़ा, अपितु सब भाई हैं, उन सबका पिता ईश्वर और उन सबकी माता पृथिवी है [1]।" वेद प्रतिपादित, इस सार्वत्रिक भ्रातृभाव का अनुभव, मनुष्य उसी समय कर सकता है, जब पहले ईश्वर के सार्वत्रिक पितृभाव का विश्वास उसे हो जाय। इसी विश्वास के पहले आ जाने की जरूरत है। ईश्वर के प्रेम का प्रारम्भिक रूप वह होता है, जब मनुष्य के हृदय में ईश्वर-विश्वास का सूत्रपात हुआ करता है। यह विश्वास बढ़ते-बढ़ते निश्चयात्मक ज्ञान का रूप धारण कर लेता है और तभी प्रेम का उत्कृष्ट रूप प्रादुर्भूत होता है। उस में प्रेमी प्रियतम के प्रेम में मग्न होकर अपनी सुधबुध भुला देता है। यही प्रेम की उत्कृष्ट अवस्था भक्ति है। भक्ति की भावना में भक्त केवल

(१) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ऋग्वेद ५।६०।५

स्वयं ही शान्त और प्रसन्नवदन नहीं रहता अपितु अपने संपर्क में आने वाले प्राणिमात्र के आह्लाद का भी कारण बन जाता है। यह निश्चित है कि संसार के अधिकतर प्राणी ऐसे नहीं हो सकते, परन्तु यदि ध्येय सबका यही हो जाय तो जो कोई इस मार्ग में जितना भी चलेगा वह उतने ही से सुख और शान्ति के साम्राज्य की वृद्धि का एक दरजे तक अवश्य कारण बनता जायगा। इसलिए आस्तिक भावना आज भी पुराने ढाँचे की व्यर्थ वस्तु नहीं अपितु जीती जागती संसार के वर्तमान अशान्ति-रूपी रोग की एकमात्र चिकित्सा है। अतः अशान्ति से पीड़ित, संसारी पुरुषों को चाहे वे योरोप में निवास करते हों या एशिया में सुरी और ना-सुरी से इस चिकित्सा-विधि का सेवन करना ही पड़ेगा। अस्तु, यह बात कही जा चुकी है कि इस चिकित्सा-विधि के सेवन-रूप ईश्वर-विश्वास से मनुष्य का आत्मा बलवान् बना करता है। अब हम यहाँ यही बतला देना चाहते हैं कि किस प्रकार आत्मा में शक्ति और बल आया करते हैं? इसके मुख्यतया पाँच साधन हैं —

पहला साधन—आत्मा के प्रतिकूल कार्यों से बचना और आत्मानुकूल कार्य्यों का करना।

प्रतिकूल कार्य्यों से निर्बलता और अनुकूल कार्य्यों से आत्मा में सरलता आया करती है। ईश्वर के दिव्य गुण आदि से लेकर अन्त तक प्राणिमात्र के कल्याण के लिए काम में आया करते हैं। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि यथासम्भव वह उनमें से जितने गुणों को भी अपने आत्मा में ला सके लावे। आत्मा के प्रतिकूल कार्य्य वही होते हैं जिनसे अन्यों को कष्ट पहुँचे। ईश्वरीय गुणों के अनुशासन से वह ऐसे ही कार्य्य कर सकेगा जो आत्मानुकूल हैं, और किसी को भी कष्ट देने वाले न हों। गुणों को अपने अन्दर लाने का साधन जप है। इसलिए दैनिक जप में इस

समय अवश्य प्रत्येक व्यक्ति को लगाने का यत्न करना चाहिए।

दूसरा साधन—आत्म-निरीक्षण (Self-introspection) से मनुष्य के भीतर से वे सारे कार्य्य, जो आत्मा के प्रतिकूल होते हैं, दूर हुआ करते हैं। आत्म-निरीक्षण का अभिप्राय यह है कि मनुष्य किसी खास समय दूसरों पर ध्यान न देकर केवल अपने कृत्यों पर विचार किया करे और उन कृत्यों को, जो उसे मालूम हों कि दुष्कृत्य हैं, उन्हीं के छोडने का निश्चय परमात्मा को साक्षी करते हुए कर लेना चाहिए और फिर उस निश्चय को बराबर स्मरण करते रहना चाहिए। सोते समय यह काम अधिक से अधिक उत्तम रीति से किया जा सकता है। फलत प्रतिदिन उसी समय २० मिनट इस कार्य्य में लगाने चाहियें। इसका फल यह होगा कि अनेक दुर्गुण और कुकृत्य उससे छूटते रहेंगे। जप से जहाँ मनुष्य में अच्छे गुण आया करते हैं, आत्मनिरीक्षण से वहाँ उसके अन्दर से दुर्गुण निकला करते हैं।

तीसरा साधन—आत्म-बल वृद्धि का तीसरा साधन तप है। तप कहते हैं कठोरताओं के सहन करने को। कठोरताओं को सहन करने से मनुष्य के भीतर साहस की वृद्धि होती है, जिससे उसे कोई कष्ट वेदना नहीं पहुँचा सकता। आरामतलब आदमी सदैव दुःख उठाया करते हैं, परन्तु तपस्वी और अपनी ओर से प्रसन्नता के साथ-साथ दुःखों को सहन करने वाले व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत किया करते हैं। महाभारत में एक जगह द्रौपदी द्वारा सत्यभामा को शिक्षा देने की बात अंकित है। द्रौपदी ने उसे कहा कि "सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यम्, दुःखेन साध्वी लभते सुखानि" दुःख और सुख का चक्र एक के बाद दूसरा मनुष्य के सामने क्रमश आया करता है। यदि एक व्यक्ति अपनी ओर से दुःख के चक्र को तपस्या द्वारा अपने सामने ले आता है, तो निश्चित रीति से उसके बाद का चक्र

सुख का द्योतक और मनुष्य तपस्वी जीवन रखते हुए जब तक चाहे इस सुख के चाक को अपने सामने रखता है। दुःखी मनुष्य निश्चलात्मा और सुखी सदैव सत्यात्मा हुआ करता है।

चौथा साधन—स्वाध्याय चौथा साधन है। उत्तम ग्रंथों के अध्ययन से मनुष्य के विचार विकसित हुआ करते हैं और संकीर्णता और संकोच के संकुचित क्षेत्र से वह बाहर हो जाया करता है। संकोच से आत्म-ग्लानि और स्वार्थ से आत्मा आच्छादित हुआ करता है। ऐसे ग्रंथ जो मनुष्यों की रुचि बिगाड़ने और उनमें कुवासना और कुरुचि पैदा करने वाले हैं, कभी नहीं पढ़ने चाहियें। उत्तम पुरुषों और महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित्र और धार्मिक तथा आचारवान् जीवन का दर्जा ऊँचा करने वाले ग्रंथ ही स्वाध्याय के ग्रंथ हो सकते हैं।

पाँचवाँ साधन—उत्तम सेवा के भावों का मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाना पाँचवा साधन है। सेवा से मनुष्य का हृदय विकसित होता है और उसके भीतर निरभिमानता आती है। सेवा से केवल सेवक ही का उपकार नहीं होता किन्तु जिसकी सेवा करते हैं, उसका भी भला हुआ करता है। मान लो तुम्हारे पड़ोस में एक व्यक्ति रहता है, जिसमें चोरी करने की कुटेव आ गई है, तो तुम किस प्रकार उसका सुधार कर सकते हो? यदि तुम उसे बार-बार चोर कह कर लज्जित करना चाहते हो और चाहते हो कि इससे उसका सुधार हो जाय तो यह संभव नहीं। तुम्हारे बार-बार के चिढ़ाने से खिझ कर वह एक दिन कह देगा कि अच्छा मैं चोर हूँ, तुम जो कुछ करना चाहते हो करो। अब वह निर्लज्ज हो गया अब उसे चोर कहे जाने की लज्जा बाकी नहीं रही। किसी भी पतित व्यक्ति का सुधार उसके अवगुणों को बार-बार दुहरा कर चिढ़ाने से नहीं हुआ करता। सुधार का मार्ग दूसरा है। उसका अवलंबन करने ही से सफलता

मिला करती है। तुम किसी व्यक्ति में, जो अवगुण है उसका जिक्र भी न करो, किंतु यत्न करो कि उसके दु ख-सुख, और विशेपकर दु ख में सहायक बनो। ऐसा दो चार बार करने से वह तुमसे इतना प्रभावित और तुम्हारा इतना कृतज्ञ होगा कि बिना तुम्हारे कहे स्वयमेव अपने अवगुणों को छोड देगा।

सेवा का एक उदाहरण

बङ्गाल में भक्तिमार्ग के प्रचारक चैतन्य के जीवन की एक घटना बहुत शिक्षाप्रद है। चैतन्य एक समय अपने कुछ शिष्य और अनुयायियों के साथ बङ्गाल के एक नगर में गये और एक वाटिका में अपना आसन जमाया। नगर के लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। उन्होंने, इन आगन्तुकों में अधिकांश से एक प्रश्न किया और वह यह था कि तुम्हारे नगर में सब से अधिक खराब आदमी कौन है? प्रत्येक ने एक ही उत्तर दिया कि मघाई नाम का एक व्यक्ति उनके नगर में सब से अधिक बुरा और प्राय सभी के लिये कष्टों का कारण है। चैतन्य ने अपने दो शिष्यों को भेजा कि जाओ, मघाई को बुला लाओ। दोनों शिष्य मघाई के पास पहुँचे। वह उस समय अपने किसी मित्र के साथ बैठा हुआ शराब पी रहा था। जब शिष्य ने गुरु का सदेश उसे दिया तो उसने एक खाली बोतल उसके सिर में दे मारी। सिर में जख्म हो गया और खून निकलने लगा। शिष्यों ने गुरु के पास जाकर घटित घटना सुना दी। गुरु ने अपने आठ दस शिष्यों को भेजा कि जाओ, और यदि मघाई खुशी से न आयें तो उसे पकड कर ले आओ। इस प्रकार पकडा हुआ मघाई चैतन्य के समीप पहुँचा। चैतन्य ने एक अच्छा गुदगुदा फर्श बिछवा रक्खा था। मघाई उसी फर्श पर लिटाया गया। वह सोच रहा था कि उसे दड मिलेगा, परन्तु देखता क्या है कि चैतन्य आ कर उसके पैरों के पास बैठ गये, और उन्होंने अपने हाथ उसके पैर

पर इस प्रकार रखे जैसे कोई किसी के पाँव दबाता है। मथाई घबरा कर उठ बैठा। उसका हृदय उथल-पुथल गया और वह चैतन्य के हाथों को पैर से हटा कर घबराये हुए चित्त और तर आँखों से चैतन्य से कहने लगा कि महाराज! मैं बड़ा पापी हूँ। मैंने अनेक अपराध किये हैं आपने क्यों अपने पवित्र हाथों को मेरे शरीर से लगाकर अपवित्र किया? अब वह मथाई पहला मथाई नहीं रहा था। अब उसके भीतर आत्म-ग्लानि पैदा हो चुकी थी और वह अपने दुष्कृत्यों से घृणा करने लगा था। अधिक कहने की जरूरत नहीं चैतन्य का जीवन-चरित्र बतलाता है कि मथाई उनके शिष्यों में सब श्रेष्ठ शिष्य बन गया। यह सब चैतन्य के सेवा-भाव का फल था। अस्तु, इन उपर्युक्त पाँच बातों पर अमल करने से मनुष्य का आत्मा बलवान बन जाया करता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य पहले तीनों प्रकार के कर्तव्यों को करके श्रेष्ठ मनुष्य बन जाता है, और इन अन्त में वर्णित पाँच बातों पर अमल करके अपने आत्मा को भी बलवान् बना लिया करता है। तभी उसके भीतर ब्रह्म-प्राप्तिकथा के भाव जागृत होते हैं और तभी वह ईश्वरोपासना की ओर प्रवृत्त होकर, भक्तिमार्ग का पथिक बना करता है। हाँ, उसी भक्ति का, जिसके प्रचार के उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया है और जिसके लिये ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

दैनिक "मिलाप" लाहौर के स्वामी और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर के प्रधान श्री ला० खुशहालचन्द जी इस समय मेरे साथ सैन्ट्रल जेल गुलबर्गा (हैदराबाद) में हैं। जो उन्हें और उनके परिवार को जानता है, वह यह बात बहुत अच्छी तरह जानता है कि लालाजी तथा उनका परिवार कैसा उच्च कोटि का विशुद्ध आर्य जीवन रखता है। ला० खुशहालचन्द जी के लिए भक्ति-मार्ग सब कुछ है, और इसीलिए उन्होंने जेल के अवकाश के समय का सदुपयोग

करते हुए भक्ति पर यह ग्रथ लिखा है। कई वार यहाँ जेल की प्रतिकूलताओं के कारण उनका स्वास्थ्य भी खराव रहा, और भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े, परन्तु फिर भी भक्ति के प्रेम से, उन्होंने ग्रथ का लिखना नहीं छोड़ा। पुस्तक की भाषा उत्तम, सरल और हृदयग्राह्य है। उसमें सभी विषयों का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि उससे प्रत्येक कम से कम शिक्षा रखने वाला व्यक्ति भी लाभ उठा सके। उनकी लिखी अपनी राम-कहानी से साफ प्रकट होता है कि उन्होंने जिस मार्ग का आश्रय लिया, वह उनके लिए कितना शान्तिप्रद सिद्ध हुआ। इसीलिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अनेक वहनों और भाइयों को भी उससे लाभ उठाने का अवसर दें। पुस्तक पर सरसरी निगाह डालने से भी उसकी उपयोगिता प्रकट हो जाती है।

भक्ति की विधि, मन के निग्रह के साधन, सकल्प, सस्कार और स्वाध्याय आदि अनेक उपयोगी विषयों पर पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। पुस्तक का वह भाग, जिसमें दिखलाया गया है कि कौन लोग भक्ति से वंचित रहते हैं, पाठकों के लिए विशेष ध्यान देने के योग्य है।

यह विश्वास है कि पुस्तक जिस सदुद्देश्य से लिखी गई है, पाठकगण उसका ध्यान रखते हुए अधिक से अधिक उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। पुस्तक वास्तव में प्रचार योग्य है। इन्हीं कुछ एक शब्दों के साथ पुस्तक पाठकों के सम्मुख रखी जाती है।

फिल्टर वार्ड, गुलवर्गा
२७ मई, १९३९

—नारायण स्वामी

राम कहानी

जीवन के उस आरम्भिक काल में जब कि साधारण बालक रात की काली चादर ओढ कर माँ की मीठी थपकियों में सो जाना पसन्द करते हैं, मैं उन नीरव-निस्तब्ध रातों में, जब सब लोग सो जाते थे, गायत्री-माँ की लोरियाँ सुना करता था। बच्चों के लिए खेल-कूद भी बहुत आकर्षण रखते हैं, परन्तु मेरे लिए तो यही आकर्षण सब से बढ कर रहा कि मैं गायत्री माँ की मृदुलगोद में खेला करूँ।

मैं खिन्न रहता था—ससार से निराश। आठ-नौ वर्ष की अल्पायु में ही मैंने अनुभव किया कि मेरा जीना निरर्थक है। ससार की कोई सूनी छोर खोज कर मैं रोया करता और अपनी मूक-भाषा में अपने गाँव से परे दीखती उन काली पहाडियों से पूछता—मेरे से कोई भी क्यों प्रसन्न नहीं है? अध्यापक, मित्र, सगे-सम्बन्धी और दूसरे—क्यों मेरे साथ प्रेम-व्यवहार नहीं करते? यह पहाड़ियाँ निर्जीव थीं, निश्चल और निष्प्राण। वह मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सकती थीं, न देतीं। परन्तु एक दिन मेरी सजल आँखों को देख कर, मेरे मुरझाये चेहरे को देख कर स्वर्गीय स्वामी नित्यानन्द जी ने, जो उन दिनों हमारे गाँव जलालपुरजट्टाँ में पधारे थे, मुझसे इसका कारण पूछा।

मैंने कहा— मेरा जीना निरर्थक है। मुझसे कोई भी प्रसन्न नहीं। किसी भी विषय में मेरा प्रवेश नहीं। ऐसे जीने का काम ?"
स्वामी जी ने मेरे टूटे दिल को ढारस बँधाया। मुझे आश्वासन देते हुए बोले—"निराश न हो। हम तुम्हें एक उपाय बताते हैं। उसका सेवन करो। तुम्हारे संतप्त हृदय को शान्ति मिलेगी सब शोक और विघ्न-बाधायें दूर हो जायेंगी।"

मैंने बाबू के शब्दों में पानी की मिठास का अनुभव किया। इस अन्धकारमय संसार में उज्ज्वल ज्योति का एक मधुर-आभास पाया। मैंने तिनके का सहारा लेते हुए कहा— 'बताइये—आप की अनुकम्पा!' और जब उनकी आज्ञानुसार मैं कागज का एक पन्ना ले आया तो स्वामी जी ने उस पर गायत्री मंत्र लिख दिया। गायत्री-मंत्र मुझे पहले भी कण्ठस्थ था किन्तु उस दिन उसे देखकर मेरी आँखें एक अद्भुत ज्योति से चमक उठीं।

तब उन्होंने मुझे इसके अर्थ बतलाते हुए कहा— 'जब घर के सब लोग सो जाँय तब उठ कर इस मंत्र का जाप किया करो।

इस घटना को आज लगभग ४६ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु मुझे एक भी ऐसा दिन स्मरण नहीं जब कि मैं गायत्री-माँ की पवित्र गोद में न बैठा हूँ। इस जाप से मेरे निराश हृदय को आराम मिला मेरे खिन्न-चित्त को रस मिला और मुझ अशान्त को शान्ति का महासागर! ज्यों ज्यों मैं इस मंत्र का जाप करता गया मेरी रुचि प्रभु-भक्ति की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्रत्येक मंत्र मेरे ऊपर अपना नया रंग छोड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उसमें इतना रंग गया कि मुझे संसार की किसी दूसरी वस्तु में उससे अधिक आकर्षण दीख नहीं पड़ा।

भगवान की अपार-कृपा से मेरा जन्म ऐसे माता-पिता के घर में हुआ जो सदा आर्य-जीवन व्यतीत करने वाले और प्रभु-भक्त हैं। उनके शिक्षण और पोषण ने मेरे अन्दर प्रभु-भक्ति का भाव

कूट-कूट कर भर दिया। इस पर भी जो कृपा हुई, तो मुझे इस ससार-यात्रा में जीवन-सगिनी भी प्रभु-भक्ति के रङ्ग में रङ्गी हुई ही एक देवी मिली। विवाह के पश्चात् मेरे भक्ति-भाव को इस देवी ने और भी तीव्र कर दिया। सहधर्मिणी के बाद सन्तान भी प्रभु-भक्त ही मिली। मैं तो चारों ओर से प्रभु-प्रेम, प्रभु-भक्ति और प्रभु-विश्वास से ओत-प्रोत हो गया। और जब १६०७ में श्री पूज्य महात्मा हसराज जी के साथ ससर्ग हुआ तो प्रभु-प्रेम पर एक और अनोखा रङ्ग चढ गया। इसके पश्चात् मुझे जो सम्बन्धी मिले, जो धर्मपुत्र और धर्मपुत्रियाँ भी मिलीं, वे भी प्रभु के सच्चे भक्त। इसी प्रकार मुझे मित्र भी वही मिले जो प्रभु-भक्ति के रङ्ग में रगे हुए थे।

ऐसा अनुकूल वातावरण पाकर प्रभु-भक्ति का रङ्ग दिन प्रति-दिन गाढा ही होता चला गया। जीवन में समय-समय पर परिवार, सम्बन्धियों तथा मित्रों की ओर से पूर्ण सुभीता होने से मुझे इस मार्ग पर अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली, और जब मेरे भाग्योदय की घडी निकट आ पहुँची तो फिर गुरु अचानक ही मिल गये। उन्होंने स्वय मेरा हाथ थाम, मुझे भगवान् के सम्मुख बिठाकर उसकी झलक दिखा दी। जब कभी भी मैं एकाकी होकर अपने जीवन की अद्भुत घटनाओं पर विचार करता हूँ तो मुझे इन सब के भीतर मेरी प्रिय माता 'वेदमाता' का ही हाथ निहित नजर आता है। मैं कुछ भी नहीं हूँ सिवाय इसके कि गायत्री-माँ की कृपा का पात्र हूँ। मैंने जो कुछ भी पाया है, उसी से, उसी के आशीर्वाद से पाया है।

यह कथा वर्णन करने का अभिप्राय यही है कि वह बालक-बालिकायें, युवक-युवतियाँ तथा वृद्ध और वृद्धायें, जो मेरी तरह आतुर और व्याकुल हो रहे हों, मेरे जीवन की इस सत्य राम-कहानी से कोई लाभ उठा सकें। वह ठोकरें खाने की बजाय एक निश्चित और सफल-मार्ग की ओर अग्रसर हों।

हैदराबाद धार्मिक-संग्राम के सम्बन्ध में डेढ़ वर्ष के लिये कारागार में आकर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस जेलयात्रा का 'प्रसाद' अपने भाई-बहनों को क्या दूँ। सौभाग्य से जिस जेल (गुलबर्गा जेल) में मैं बन्दी था उसी जेल में श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज भी बन्दी थे। उनके सत्सङ्ग में रहते हुए और प्रतिदिन उपनिषदों के रहस्य सुनते हुए मेरी अन्तरात्मा से यही ध्वनि प्रतिध्वनित हुई कि 'प्रभु-भक्ति' का ही प्रसाद उपयुक्त होगा लेकिन मैं प्रसाद देने वाला कौन? मेरे पास रखा ही क्या है? यह तो उसी की कृपा का प्रसाद है, उसी की आज्ञा से आपके सम्मुख रख रहा हूँ। अच्छा लगे—न लगे, भावे न भावे यह प्रेम की भेंट है, स्वीकार कीजिये।

सेन्ट्रल जेल गुलबर्गा
प्रथम वैशाख १९९६
१९ अप्रैल १९३९

भक्तों के चरणों का रज-कण
[illegible]

असार-संसार

असार है यह संसार, और फिर यह शरीर तो सर्वथा क्षण-भंगुर है। जो श्वास आता है, उसके जाते समय कोई नहीं कह सकता कि फिर यह लौट कर आएगा या यही अंतिम श्वास सिद्ध होगा। यजुर्वेद का स्वाध्याय करते हुए जब मैं पैंतीसवें अध्याय पर पहुँचा और इसके बाईस मंत्रों का पाठ किया तो मेरी आँखें खुल सी गईं। भगवान् ने हमें इस संसार में क्यों भेजा, जीव को यहाँ आ कर क्या करना चाहिये, जन्म और मृत्यु क्या है, मर कर क्या गति होती है? कुछ ऐसी समस्याएँ मेरे सामने उपस्थित हो गईं, जिन पर कभी विचार करने की आवश्यकता न पड़ी थी। परन्तु इस अध्याय ने मुझे बाधित कर दिया कि मैं इनपर विचार करूँ। इसी अध्याय का चौथा मंत्र है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।

गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥ यजु० ३५।४॥

"कल पर्यन्त संसार रहे न रहे, ऐसे अनित्य संसार में तुम लोगों की स्थिति है, और पत्ते के तुल्य चंचल शरीर में भगवान् ने तुम्हारा निवास किया है। परन्तु, तुम इन्द्रियों ही के दास हो रहे हो, परमात्मा की भक्ति करो, इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा।" स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र का भावार्थ करते हुए लिखा है—

"मनुष्यों को चाहिए कि अनित्य-संसार में अनित्य-शरीरों और पदार्थों को प्राप्त हो के क्षण-भंगुर जीवन में धर्माचरण के साथ नित्य परमात्मा की उपासना कर आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न हुए नित्य सुख को प्राप्त हों।"

क्या आपके बापों को ज्ञात था कि उनके लिये चार अप्रैल को प्रात: आएगी या नहीं ? बिहार के लोग दिन के समय अपने कामों में संलग्न थे कोई दूकान पर बैठा था कोई बाजार में जा रहा था। माँ अपने बच्चे को दूध पिला रही थी, भोले बालक आराम से खेल कूद रहे थे। सब अपने कामों में मग्न थे परन्तु तभी एक ऐसा झटका आया, जिससे सहस्रों मृत्यु की गोद में सो गये। विशाल अट्टालिकाएं भूमि पर लोटने लगी। हंसते बालक रो उठे और जब बाजारों की सफाई की गई तो साईकिल पर सवार लाशें मिली। उन्हें इतना भी समय न मिला कि वह साईकिल से उतर ही सकें। सब जहाँ के तहाँ ही मृत्यु के ग्रास बन गए। जिन दिनों खुदाई का काम हो रहा था उन दिनों मैं वहीं था। मेरे सामने जब एक मकान की खुदाई की गई तो दो लाशें एक साथ निकली। मां बच्चे को गोदी में लिए स्नान करा रही थी। साबुन की टिकिया उसके हाथ में थी, किन्तु जब मृत्यु आई तो इतना भी नहीं हुआ कि साबुन को नीचे रख सकती। ठीक तो है—

क्या भरोसा है जिन्दगी का आदमी बुलबुला है पानी का।"

क्या १९३५ में क्वेटा वाले जानते थे कि उनके भाग्य में क्या लिखा है ? रात को कितनी उमंगें कितने उल्लास, कितनी स्कीमें और कितने ही प्रोग्राम मन में बना कर वह सोये थे। कितनों ने पहली रात विवाह के स्वप्न पाले थे कितनी ही देवियों ने ब्याह की मेहंदी लगाई थी। परन्तु, रात्रि के घने अन्धकार में भूकम्प के एक ही झटके ने सब आशाओं पर पानी फेर दिया। सुन्दर नगर मिट्टी का ढेर बन

गया, सैंकड़ों मर गए और सहस्रों रोने के लिए जीवित रह गए। किस बात पर मनुष्य इतना इतराता है और क्या सोच कर इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ कामों में नष्ट करता है? अरे मन! कभी तूने इसपर विचार किया!

वृक्ष के पत्ते की भाँति यह शरीर कब टूट कर गिर पड़ेगा, यह कोई नहीं कह सकता। फिर जब तक यह वृक्ष के साथ जुड़ा हुआ है, तबतक इसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जाय? क्यों रे मन, कहो, क्या इच्छा है! इस अल्प-काल में, जिसमें, कितना ही समय बचपन में व्यतीत हो गया, कितना ही सोने में गुजर गया, कितना ही रोगों और उनकी निवृत्ति में लग गया, कितना ही शरीर-रक्षा में चला गया, और कितना ही विषय-वासनाओं की पूर्ति में नष्ट हो गया, क्या करने का निश्चय है? कौन जानता है श्वास अभी समाप्त हो जाते हैं या कुछ समय के पश्चात्। तू उस शेष काल को भी खो देना चाहता है या इसका अच्छा उपयोग करना चाहता है। जीवन का उद्देश्य तो तुझे भगवान् बतला चुके हैं—और वह है "भक्ति", अनित्य-शरीर में रहते हुए दो नित्य-ज्योतियों का मिलाप, आत्मा और परमात्मा का योग।

पत्थरों से भरी नदी—

यजुर्वेद के पैंतीसवें अध्याय के दसवें मन्त्र में कहा गया है—

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखाय ।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥यजु० ३५।१०॥

"पत्थरों से भरी हुई संसाररूपी यह नदी बही चली जा रही है। हे मित्रो! (इससे पार उतरने के लिए) कमर कसो, उठो और पार उतर कर ही दम लो। दुःखदायी जो बन्धन हैं, उनको यहीं छोड़ कर कल्याणप्रद सच्चे बल, आत्म-बल के भरोसे इसके पार उतर चलो। कितने फिसलने पत्थर हैं इस सागर में, जरा ध्यान चूका और

अब धर्माचरण और प्रभु-भक्ति में लगाना चाहिए। एक क्षण के लिए भी मन को अब छुट्टी न दे, जिससे वह हमें हमारे जीवनोद्देश्य से विमुख कर दे।

ऋग्वेद के पहले मण्डल में १६४ वे सूक्त के जो ३७ और ३८ मन्त्र हैं, उनमें भी बड़ी सुन्दरता से अपने आपको पहचानने और अनित्य-शरीर से लाभ उठाने की बात कही गई है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्य मनद्धो मनसा चरामि।
यदि मागन प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्या।

ऋ० १-१६४-३७

"मैं नहीं जानता, मैं कौन सी वस्तु हूँ ? मैं, जो एक रहस्य बना हुआ हूँ, अब मन के साथ पूरा तय्यार हो कर चल रहा हूँ। जब ऋत (सृष्टि-विज्ञान) का बड़ा भाई आत्म-विज्ञान मुझे प्राप्त होगा, तभी मैं इस वाक् (वेद) का भाग पाऊगा।"

और—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनि।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्य चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्।

ऋ० १-१६४-३८

"अमर-आत्मा इस मरने वाले शरीर के साथ रहता हुआ माया के वशीभूत हुआ नीचे और ऊपर जाता है (उच्च नीच योनियों में घूमता है)। दोनों अमर और मरने वाले साथ रहते हुए भी सदा भिन्न गति वाले रहते हैं, इनमें लोग एक को देखते हैं, दूसरे को नहीं।" इस अमर जीवात्मा और मरने वाले शरीर का सम्बन्ध इस लिए किया गया है ताकि यह 'अमर' दूसरे 'महा-अमर' को, जो आनन्दस्वरूप है, पा सके। यह शरीर प्रभु को पाने का एक साधन है। यदि इस साधन ही को साध्य समझ लिया जाय और इसीकी पूजा आरम्भ कर दी जाय, तो क्या गति होगी और उस आत्मा का

क्या बनेगा, जिसने इसपर भरोसा किया। इसका यह प्रयोजन नहीं कि शरीर की सर्वथा अवहेलना कर दी जाय। ऐसा नहीं यह तो दुर्लभ है। इसीका तो ज्ञान सबसे पहले प्राप्त करना है, यही तो प्रभु-मन्दिर है, इसीकी तो पूर्णरूपेण रक्षा करनी चाहिए। इसे सभी प्रकार स्वस्थ रखना चाहिए यह जितना स्वस्थ तथा पुष्ट होगा उतना ही शीघ्र यात्री को प्रभु-दर्शन करा सकेगा। क्या टूटी मोटर मालिक को यथास्थान पहुँचा सकती है ? वह तो मार्ग में ही उसे पटक देगी। क्या मरियल टट्टू सवार को घर पहुँचाएगा ? नहीं वह तो उस सवारको जङ्गल ही में छोड़ देगा। सवारी अच्छी ही होनी चाहिए। इसीलिए भक्त प्रार्थना करता है—

> अग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
> मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥
>
> ऋ० १०-१२८-१

"हे अग्नि-स्वरूप प्रभो ! जीवन के संग्रामों में मेरे अन्दर तेज और चमक हो। तुम्हारी ज्योति को जगाते हुए हम शरीर को पुष्ट कर चारों दिशायें मेरे आगे झुक जाँय। आप हमारे अध्यक्ष बनें ताकि सबप्रकार के विरोधी-बल को हम पराजित कर सकें।"

इसीलिए शरीर का स्वस्थ और पुष्ट होना नितान्त आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है।

मैं यह भी नहीं कहता कि शरीर को संसार के भोगों से वञ्चित रखिए। नहीं जितने भोग भोग सकते हों भोग लें परन्तु यह स्मरण रखिए—

> भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
> कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

मैंने विषयों का भोग नहीं किया किन्तु विषयों ने ही मुझे भोग लिया। मैंने तप न किया पर तपों ने ही मुझे तपा डाला। काल

नहीं बीता, हम ही बीत गए। हमारी तृष्णा बूढ़ी न हुई, हम ही बूढ़े हो गए।

हमने भोग न भोगा, भोगों ने भुगताया हमें कहीं।
हमने तप नहीं किया तपों ने हमें तपाया न्यून नहीं ॥
काल न बीता, बीते हम ही किया व्यर्थ ही जग-व्यवहार।
तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हम गल पड़ पहुँचे अन्त किनार ॥

तेन त्यक्तेन—

सांसारिक भोगों के भोगने से कोई रोकता नहीं है, न ही कोई यह कहता है कि सब कुछ छोड़कर अकर्मण्य हो जाओ, गार्हस्थ्य-आश्रम त्याग कर किसी वन में जा बैठो, कभी कोई आपको यह उपदेश न देगा कि संसार के बन्धनों, झंझटों और कष्टों से घबरा कर भीरु बन जाओ। कहने का तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद के निम्न मन्त्र को सदा सम्मुख रखो— ,

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम् ।" यजु० ४०।१।

"तप त्याग से उपभोग कर, मत ललचा, (जरा सोच तो सही) यह धन किसका है ?" त्याग-भाव से भोग कीजिए। मैं आजकल निज़ाम सरकार की गुलबर्गा जेल में कैदी हूँ। इस जेल के वार्ड न० ८ में रहता हूँ—अब यह वार्ड मेरे ही नाम से विख्यात हो गया है। महात्मा नारायण स्वामी जी जिस वार्ड में रहते हैं, वह भी उन्हींके नाम से प्रसिद्ध हो गया है। राजगुरु प० धुरेन्द्र शास्त्री Segregation ward में रहते हैं, परन्तु अब उसे सेगरेगेशन वार्ड नहीं कहा जाता, शास्त्री जी का वार्ड कहा जाता है। इसीप्रकार श्री शारदा जी वाले वार्ड को शारदा जी का वार्ड कहा जाता है। सब सत्याग्रही जेल के भगवे रंग के कपड़े पहनते हैं, जेल के "तसले" में दाल लेते हैं, "चम्बू" में पानी पीते हैं, जेल का टाट और कम्बल नीचे

मिलते हैं, जेल की इन सब वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, परन्तु इन्हें अपना नहीं समझते। अपनी कैद के दिन गुजार कर हम चल देंगे और यह लम्बे कमरे, यह बर्तन, यह खाट और कम्बल यहीं छोड़ जायेंगे। जब हमें मुक्त किया जायगा तो हम इन वस्तुओं से लिपट लिपट कर रोयेंगे थोड़ा ही—अपितु प्रसन्नता से इन्हें छोड़ कर जेल से चले जायेंगे। इसीको कहते हैं "त्यक्तेन भुञ्जीथा"। एक उदाहरण और देखिए एक यात्री यात्रा के दिनों में किसी धर्मशाला अथवा सराय में ठहरता है। वहाँ कुछ घण्टे अथवा कुछ दिन रहता है। वहाँ के सारे पदार्थ प्रयोग करता है। पलंग पर सोता है, बर्तनों में खाना पकवाता है कुर्सियों पर बैठता है, साथ की वाटिका से पुष्प लेता है, फल खाता है, दूसरे यात्रियों से वार्तालाप करता है, हंसता है, किन्तु उसके मन में यह कभी नहीं आता कि मैं इन सब वस्तुओं का स्वामी हूँ और मैं इन सबको बटोर कर साथ लेता चलूँ। वह इन वस्तुओं का भोग तो करता है परन्तु उनमें लिप्त नहीं हो जाता। अपने आपको उनका न स्वामी समझता है, और न ही उनका दास। स्वामी-भाव और दास-भाव इन दोनों से ऊपर रहता है, अपने आप को केवल यात्री ही समझता है यदि उसने लोभ किया तो फंस गया पकड़ा गया और जकड़ा गया।

मन लोभ करे भी तो क्यों ? आखिर यह धन है ही किसका ? क्या रावण का यह धन था ? क्या कंस इसका स्वामी था ? क्या औरंगजेब और कारूं के पास यह था ? मुगल बादशाहों का यह धन था किसी और का ? किसी का भी नहीं भोला यात्री किसी का भी नहीं ! यह तो केवल भगवान् का है। तू इसे कितना एकत्र कर लेगा और क्या ऐसा करने से तू सुखी हो सकेगा ? यदि ऐसा होता तो आधुनिक काल का सबसे बड़ा धनी अमेरिकन अपने आपको सबसे बड़ा दुःखी न कहलाता। मि० हेनरी फोर्ड के

सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनकी वार्षिक आय २५०००००० डालर है अर्थात् सोलह लाख रुपया दैनिक। इस समय उसके पास नकद तथा सम्पत्ति ४८ करोड़ पौंड की है। परन्तु इतना धन उसे कोई विशेष सुख नहीं दे रहा। इसलिये केवल धन सुख का कारण नहीं।

इसका अर्थ यह नहीं कि मैं धनोपार्जन के विरुद्ध हूँ। उतना धन कमाइए, जितना धर्म तथा न्याय से कमा सकते हैं। पाप से धनोपार्जन न कीजिए और दूसरों का अधिकार छीन कर मत समझिए कि आप सुखी हो सकेंगे। अथर्ववेद कहता है—

> अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
> अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट्करिक्रति॥ [४–१८–३]

"जो पाप करके, उसके द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना चाहता है (वह भूल कर रहा है, शीघ्र ही) बहुत से पत्थर (उसके सिर पर) फटफट करके गिरेंगे।"

पाप करने वाले को इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि वह दूसरों को धोखा देकर स्वयं बचा ही रहेगा। समय आने वाला है, जब यह पाप पत्थर बन कर उसका सिर फोड़ देंगे, इसलिए धन के लिए पाप न कीजिये, इसे एकत्र हो कर लीजिए लेकिन इसीको अपना प्राण न समझिए। इसीके हाथ बिक मत जाइए।

तैरने और डूबने वाली नौकाए—

नदी के किनारे खड़े होकर आपने देखा होगा कि नदी में कुछ नौकाएं तैर रही होती हैं और कुछ डूबी हुई। मैं नौका का विरोधी नहीं हूँ और ना ही उसके तैरने का विरोध करता हूँ। मैं हूँ विरोधी उनके डूब जाने का। उनके तैरने और डूब जाने का क्या कारण है? तैरने वाली नौकाओं में छेद न होने के कारण उनमें पानी आ नहीं सकता। छोटा-मोटा छेद होने से जो पानी सूराख

की राह अन्दर आ भी गया तो उसे बाहर फेंका जा सकता है। इसलिए ऐसी नौकाएं न केवल स्वयं तैरती हैं अपितु दूसरे यात्रियों को भी पार ले जाती हैं। जो डूब गई हैं, उनमें छेद हो जाने से इतना पानी भर गया है कि वह अपने को पानी से ऊपर रख नहीं सकी। इसलिए अब न स्वयं तैरने के योग्य रही हैं और न दूसरों ही को पार ले जाने में समर्थ हैं। धन को नदी में उपयोग लगाने में कोई हानि नहीं। खूब धन कमाइए, परन्तु ध्यान रखिए कि धन का पानी मन में न आने पाए। यदि यह आ गया तो फिर डूबना ही होगा। धन में हम तैरें धन हमारे ऊपर तैरने न लगे। बस इतनी-सा बात से जीवन बिगड़ने की बजाय सुधरने लगता है। तब धन देखकर मोह या लोभ पैदा नहीं होता और जब मोह नहीं तो फिर आनन्द ही आनन्द है, सुख ही सुख है। एक बार एक शिष्य ने अपने गुरु से प्रश्न किया "सुख किसे प्राप्त होता है?"

गुरु ने उत्तर दिया—"जिसका हृदय शान्त है।"

"हृदय किसका शान्त है?"

"जिसका मन चंचल नहीं।"

"मन किसका चंचल नहीं?"

"जिसे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं।"

"अभिलाषा किसे नहीं है?"

"जिसको किसी वस्तु में आसक्ति नहीं।"

"आसक्ति किसे नहीं?"

गुरु जी ने शांत-स्मित-मुद्रा से कहा—"जिसकी बुद्धि में मोह नहीं है।"

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह
जिनको कछू न चाहिये वे शाहनशाह ॥

यह सब कुछ स्पष्ट हो जाने और यह मालूम हो जाने पर कि

ससार असार है और जिस शरीर में हमें रखा गया है, वह भी क्षण-भगुर है, हमारा कर्त्तव्य यह हो जाता है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस ससार और इस शरीर से जितना लाभ उठा सकें उठाए, और वह लाभ यही है कि अपनी मनोवृत्ति भगवान् के भक्तों की-सी बनाइए—

श्वास श्वास पर ओम् कह, वृथा जन्म मत खोय।
क्या जाने इस श्वास को आवन हो न होय॥

भगवान् की भक्ति में खोकर, शान्त और शीतल मन से जरा ध्यान लगा कर सुनिए—कवि कितने मधुर, आकर्षक-स्वर में आप को चेता रहा है—

सुमिरन कर मन ओम् नाम
दिन नीके बीते जाते हैं।
पाप गठरिया सिर पर भारी, पग नहीं आगे जाते हैं॥
मात-पिता पति कुल धन दारा, सग नहीं कोई जाते हैं॥
दुनिया दौलत माल खजाना, काम नहीं कुछ आते हैं।
सुमिरन कर मन ओम नाम
दिन नीके बीते जाते हैं॥

परमशांति कैसे मिलेगी ?

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता—८—१२, १३)

"सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर (अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर) तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके, योगधारणा में स्थित हुआ, जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, और उसीका चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम-गति को प्राप्त होता है।"

परन्तु यह अवस्था अन्त समय में तभी प्राप्त हो सकती है जब जीवन-काल में इसका अभ्यास किया हो। अतएव सौ काम छोड़ कर भी इसका अभ्यास करो।

भगवान् का मन्दिर

ज्यूँ तिल माँही तेल है, ज्यूँ चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझ में बसे, जाग सके तो जाग॥

यह तो भगवान् का मन्दिर है। पता नहीं इसे मनुष्य-शरीर का नाम क्यों दे दिया गया है। यही वह स्थान है, जहाँ सचमुच परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं। निस्सन्देह, परमात्मा सर्वव्यापक है, ससार के अणु-अणु में वह इसी प्रकार रमा हुआ है, जैसे हर वस्तु में अग्नि विद्यमान है। अग्नि का किसी भी स्थान पर आह्वान कीजिए, उसे प्रकट करने के साधन एकत्रित कीजिए, वह प्रकट हो जायगी। परन्तु परमात्मा हर स्थान और हर वस्तु में होते हुए भी हर जगह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। उसके दर्शन केवल इस मन्दिर में ही हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि परमात्मा को देखने वाला नेत्र केवल इसी'मन्दिर ही के भीतर खुलता है। परमात्मा और जीवात्मा का मिलाप यहीं भली भाति होता है। यही होता है सगम इन दोनों का। यही है वह मन्दिर, जिसके सब बाह्य-द्वार बन्द कर जब मन भीतर बैठ एकाग्र और निर्विषय हो जाता है, तब वह प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है, जिसे देखने की उत्कण्ठा तथा लालसा आत्मा को इस बन्दी शरीर में ले आती है। इस ज्योति को देखने से कैसा आनन्द प्राप्त होता है—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो वह स्वाद है, जिसे स्वय ही अनुभव किया जा सकता है। किसी के

बतलाने का न यह विषय है और न बतलाया ही जा सकता है।

ऋषि वाल्कलि एक बार योगेश्वर श्री बाधव के योगाश्रम में पहुँचे और प्रार्थना की—"भगवान् ! सच्चिदानन्द परब्रह्म का स्वरूप आपने देखा है, उसका वर्णन कीजिए कि वह स्वरूप कैसा है ?"

बाधव महाराज चुपचाप बैठे रहे, कुछ बोले नहीं। दोबारा फेर बार ऋषि वाल्कलि ने फिर वही प्रश्न किया। अब भी वह चुप्पी ही साधे रहे। तीसरी चौथी बार भी यही प्रश्न किया और उत्तर भी वही—मौन ही मिला। बार-बार एक ही प्रश्न दोहराते हुए जब वाल्कलि ऋषि थक गये तो कहने लगा— मेरी जिज्ञासा का उत्तर देकर मेरे मन-हृदय को आप शान्त क्यों नहीं करते ? तब योगेश्वर बाधव मुस्करा कर बोले "अरे वाल्कले ! तेरे प्रश्नों का उत्तर तो साथ ही साथ लगातार देता रहा हूँ। यदि तेरी समझ में न आए तो इसमें मेरा क्या दोष। भाई ! ब्रह्म कोई वाणी से बतलाने वाली वस्तु नहीं। वहाँ तो सब वाणियाँ पहुँच कर मौन साध लेती हैं और जब लौटकर आती हैं तो कुछ भी बोलने में असमर्थ होती हैं। इस गूँगे के गुड़ का स्वाद कैसे बतलाया जाय ?" और निश्चय ही वह स्वाद इस मन्दिर में ही मिलता है संसार की और किसी वस्तु में नहीं।

छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्तिम प्रपाठक के आरम्भ में 'ब्रह्मपुर' का वर्णन किया गया है। ब्रह्म तो सर्वत्र है और सर्वव्यापक है, फिर उसकी कोई पुरी कैसे हो सकती है। हाँ यह मनुष्य शरीर ही उसकी नगरी है, इसी में ब्रह्म को पहचानने वाला रहता है। छान्दोग्य के इन शब्दों पर ध्यान दीजिये ऋषि कहता है। छान्दोग्य ।१।१।

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश।

किं तत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

"यह जो ब्रह्मपुर (शरीर) है, इसमें एक छोटा सा (हृदय) कमल का मन्दिर है, इस (मंदिर) के भीतर एक छोटा-सा आकाश

है। इस आकाश के भीतर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।" यहाँ "कमल का मन्दिर" भक्त और भगवान् का मिलाप-स्थान है और वह इसी ब्रह्मपुर या शरीर के ही अन्दर है, इसी स्थान पर उसको खोज करनी होती है। इसी स्थान का नाम वह 'गुहा' है, जिसके सम्बन्ध में यजुर्वेद (३२।८) कहता है कि "वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा" अर्थात ज्ञानी पुरुष उस सत् ब्रह्म को हृदय की गुहा में निहित देखता है। यही बात अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के पहले ही मन्त्र में कही है—"वेनस्तत्-पश्यत् परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।" योगी उसे परम गुहा में देखता है, वहाँ सारा विश्व एक रूप हो जाता है, अर्थात् भक्त के लिए फिर प्रभु के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु देखने योग्य नहीं रहती यही है वह ब्रह्मपुर, जिसका उल्लेख मुडक-उपनिषद् में इन शब्दों में किया गया है—

य सर्वज्ञ सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा स प्रतिष्ठित ॥ (मु॰ उ॰ २।२।७)

जो सबको जानता है और सबको समझता है, जिसकी इस भूमि पर (प्रत्यक्ष) महिमा है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर (हृदय) हृदयाकाश में रहता है।

स्वर्ग भी इसीको कहा जाता है। स्वर्ग संसार का कोई विशेष स्थान नहीं है अपितु इसी शरीर के अन्दर ही वह स्वर्ग विद्यमान है।

देवताओं का दुर्ग—

वेद-भगवान् ने तो स्वर्ग का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत विवरण दिया है—अथर्व॰ (१०।२।३१)

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥

यह देवताओं का दुर्ग, जिसके आठ चक्र और नौ द्वार हैं और

जिसको जीतना दुष्कर है, उसमें ज्योति से भरपूर स्वर्ग है और उसी में सुनहरी कोष है। यह आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली अयोध्या नगरी योरोप अमरीका एशिया भारत अथवा अन्तरिक्ष लोक या द्युलोक में तो कहीं दिखलाई नहीं देती, अपितु यह नगरी हर देश, हर नगर, हर ग्राम और हर घर के अन्दर देखी जा सकती है। वह है यही मनुष्य शरीर। मनुष्य-शरीर ही में नौ द्वार हैं—दो नेत्र दो नासिकायें दो कान, एक मुख, दो मलमूत्र त्यागने के स्थान—यह नौ द्वार इस नगरी के स्पष्ट दिखलाई देते हैं। और आठ चक्र—वह भी इसी शरीर में है, हठयोग के विद्वानों का कथन है कि इस शरीर में निम्न आठ चक्र हैं। इन के द्वारा प्राण ऊपर चढ़ता हुआ ब्रह्म-द्वार में प्रवेश कर सकता है—

१ मूलाधार चक्र	२ स्वाधिष्ठान चक्र
३ मणिपूरक चक्र	४ अनाहत चक्र
५ हृदय चक्र	६ विशुद्धि चक्र
आज्ञा चक्र	८ ब्रह्म चक्र

प्रथम चक्र गुदा स्थान पर है, दूसरा पेडू में तीसरा नाभि में चौथा हृदय के निकट पाँचवाँ हृदय के अन्दर छठा कण्ठ में सातवाँ भ्रू-मध्य और आठवाँ शिखा के नीचे।

जब ब्रह्म के दर्शन करने होते हैं तो इस नगर के बाहर के सब द्वार बन्द करके इन आठ चक्रों में से होकर भीतर के अन्दर पहुँचना होता है। तब वहाँ ज्योति दिखलाई देती है, और वहीं अपने परम प्रिय का दर्शन देता है।

मन्दिर की सफाई—

वेद-भगवान् तथा उपनिषद् ने जब बतला दिया कि मनुष्य का शरीर ही भगवान् का मन्दिर है, फिर किसी आस्तिक को इसमें सन्देह नहीं रह जाता और निश्चय ही यह निवेदन केवल आस्तिक

भक्तों के ही सम्मुख रख रहा हूँ। भगवान् के इस मन्दिर में पूजा और भक्ति के लिए जाने से पूर्व अत्यन्त आवश्यक है कि मन्दिर की सफ़ाई की जाय। पूजा-पाठ का स्थान स्वच्छ ही होना चाहिए। सफ़ाई दो प्रकार की है, बाह्य और आन्तरिक। बाह्य सफ़ाई स्वच्छ जल इत्यादि से हो जाती है, परन्तु आन्तरिक सफ़ाई के लिए विशेष प्रयत्न करना होता है। उसके कुछ नियम यह हैं—

प्रात ४ बजे बिस्तर से अवश्य उठ जाने का नियम बना लेना चाहिए, और फिर शौच आदि से निवृत्त होकर दाँत साफ़ करने चाहिएँ। फिर व्यायाम, आसन इत्यादि करने चाहिएँ, जिनसे शरीर बिल्कुल थक तो न जाय, परन्तु उसके प्रत्येक अङ्ग में स्फूर्ति अवश्य आ जाय। फिर स्नान करना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो स्नान के पश्चात् व्यायाम करने का नियम बनाया जा सकता है। पेट की सफ़ाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि वैसे पेट भली भाँति साफ़ न हो तो भोजन में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहिए, जिससे पेट साफ़ हो जाय। जिनका पेट प्रतिदिन ठीक तरह साफ़ नहीं होता, उनको हाथ की चक्की से पिसे हुए मोटे आटे की रोटी खानी चाहिए। आटे को छानना नहीं चाहिए, हरी तरकारियों का प्रयोग अधिक करना चाहिए, दूध अधिक पीना चाहिए और घी में भुनी हुई हरीतकी (हरड़) का सेवन करना चाहिए। जिनका पेट इन बातों से भी साफ़ न हो, वह फिर महीना में एक दो बार वस्ति (अनीमा) कर लिया करें।

नाड़ी-शुद्धि

पेट की शुद्धि के पश्चात् नाड़ी-शुद्धि की बारी आती है और इसके लिए नाना प्रकार के प्राणायाम बतलाये गये हैं। भस्त्रिका[1] प्राणायाम से नाड़ियों के मल नष्ट होते हैं।

[1] जिस प्रकार धौंकनी में वायु भरी और निकाली जाती है, उसी प्रकार भस्त्रिका होता है। नासिकाओं के द्वारा पहले शनैः शनैः और फिर तेजी के साथ

हठयोग-प्रदीपिका में आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम बतलाए हैं—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भका ॥

"सूर्य-भेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी, यह आठ प्रकार के कुंभक प्राणायाम जानने चाहिए।"

अब इनकी कुछ विधि सुनिए —

सूर्य-भेदन—

पिंगला नाड़ी (चन्द्र स्वर) से वायु अन्दर खींचे और कुम्भक करे, पूरे बल के साथ पेट में वायु भर ले, फिर इड़ा नाड़ी (सूर्य स्वर) से शनैः शनैः पवन छोड़े।

इससे मस्तक शुद्ध होता है, ८० प्रकार के वात-दोषों को हरता है, उदर के कृमि नष्ट करता है। यह उष्ण प्राणायाम है।

उज्जायी—

दोनों नासिकाओं से पूरक करे (प्राण अन्दर खींचे), हृदय पर्यन्त पवन चली जाय तब दोनों नासिका बन्द करके जालन्धर-बन्ध[1] करे। कुंभक करे, फिर चन्द्र स्वर से रेचक करे, रेचक करने से पूर्व पवन मुख में ले आए।

इससे शरीर के सम्पूर्ण धातुओं के दोष नष्ट होते हैं, सौंदर्य बढ़ता है। यह उष्ण प्राणायाम है।

सीत्कारी—

दोनों ओठों के मध्य में लगी हुई जिह्वा से "सी" का शब्द करता हुआ मुख से पवन को अन्दर खींचे, और फिर कुंभक करके

१ जालंधर-बन्ध की विधि यह है कि पेट में वायु भरकर अपनी ठोडी को दृढ़ता से छाती के साथ लगा दे।

दोनों नासिकाओं से रेचन करे। यह प्राणायाम बार-बार करने से रूप-लावण्य बढ़ता है, यह शीतल प्राणायाम है।

शीतली—

ओठों से बाहर निकली हुई जिह्वा को पक्षी की चञ्चु के समान बनाकर वायु का आकर्षण करके नासिका के छिद्रों से शनैः शनैः रेचक करे।

ज्वर पित्त तृषा को दूर करता है। यह शीतल प्राणायाम है।

भस्त्रिका—

कोई भी आसन लगाकर भस्त्रिका करे। ग्रीवा और उदर समान रखे, मुख बन्द रखे, दोनों नासिका से पूरक करे और बिना कुम्भक किए रेचन करे। लोहार की धौंकनी के समान पूरक रेचन करे, १०-१५-२ बार करके फिर पूरक करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः इडा पिंगला से पवन छोड़ दे। और पुनः पूरक रेचक आरम्भ करे, फिर १०-१५ २ बार करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः पवन छोड़ दे। वात पित्त कफ को हरता है, जठराग्नि को बढ़ाता है।

भ्रामरी—

भ्रमर के समान शब्द करते हुए वेग से नासिकाओं द्वारा पूरक करके कुम्भक करे और फिर रेचक। इससे चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है।

मूर्छा—

पूरक करके आभ्यन्तर-बन्ध खूब दृढ़ रीति से लगाए और फिर वायु, बहु० धीरे धीरे छोड़े। इससे मन की मूर्छा होती है।

प्लाविनी—

पवन को खाया जाय ऐसा पवन उदर में जाकर उदरस्थ आमाशय तक पहुँचाने से इसे निकाल दिया जाय। यह आठ प्राणा-

याम प्रतिदिन करने चाहिए। यह शरीर की सारी नाडियाँ शुद्ध करने में बहुत सहायक होते हैं।

मन की शुद्धि—

नाडी-शुद्धि के अतिरिक्त मन की शुद्धि भी आवश्यक है। उपनिषद् में बतलाया है कि मन अन्न से बनता है। वैसे तो सारा शरीर ही अन्न से बनता है, परन्तु शरीर अन्न के स्थूल भाग से बनता है और मन सूक्ष्म भाग से। जिस भावना अथवा जिस साधन से अन्न कमाया जायगा, उसका सूक्ष्म प्रभाव मन पर अवश्य पड़ेगा। यदि अन्न कमाने में झूठ, दम्भ, मक्कारी या पर-पीड़ा को काम में लाया गया है तो उस अन्न के खाने वाले के मन पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यह प्रभाव शीघ्र ज्ञात हो या न हो, परन्तु किसी न किसी समय यह प्रभाव जागृत होकर मनुष्य को वैसे ही कर्म करने पर बाधित कर देता है, यह निश्चित बात है। यह खोटे अन्न ही का तो प्रभाव था, जिसने भीष्म पितामह जैसे व्रतधारी बाल-ब्रह्मचारी को विवश कर दिया कि वह सत्य और न्याय का पक्ष छोड़ कर अत्याचारी दुर्योधन का साथ दें। भीष्म पितामह ने स्वयं महाभारत में अन्न के इस प्रभाव को माना है। इसलिए मन की शुद्धि के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हमारा अन्न शुद्ध हो, यह धर्म तथा अपने बाहु-बल से कमाया गया हो। इसके साथ अन्न ऐसा खाया जाय जो विकार पैदा करने वाला न हो, तामसिक न हो। जो लोग लाल मिर्चें तथा चाय[1]-काफी इत्यादि का अधिक प्रयोग करते हैं, उनके स्वभाव में कड़ुवापन बढ़ जाता है, सहनशीलता कम हो जाती है और उनका मन अधिक चञ्चल हो उठता है, वह देर तक एक ही आसन में बैठ नहीं सकते। इटली के भक्त पाइथा-गोरस (Pythagoras) का यह सिद्धान्त था कि

[1] औषधिरूप में चाय काफी का प्रयोग निषिद्ध नहीं और शीत-प्रधान देश में इनका सेवन हानिकर नहीं।

दोनों नासिकाओं से रेचन करे। यह प्राणायाम बार-बार करने से रूप-लावण्य बढ़ता है, यह शीतल प्राणायाम है।

शीतली—

ओष्ठों से बाहर निकली हुई जिह्वा को पक्षी की चंचु के समान बनाकर वायु का आकर्षण करके नासिका के छिद्रों से शनैः शनैः रेचन करे।

ज्वर, पित्त तृषा को दूर करता है। यह शीतल प्राणायाम है।

भस्त्रिका—

कोई भी आसन लगाकर भस्त्रिका करे। ग्रीवा और उदर समान रखे, मुख बन्द रखे, दोनों नासिका से पूरक करे और बिना कुम्भक किए रेचन करे। लोहार की धौंकनी के समान पूरक रेचन करे, १०-१५-२० बार करके फिर पूरक करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः इड़ा पिंगला से पवन छोड़ दे। और पुनः पूरक रेचक आरम्भ करे फिर १०-१५-२ बार करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः पवन छोड़ दे। वात पित्त कफ को हरता है, जठराग्नि को बढ़ाता है।

भ्रामरी—

भ्रमर के समान शब्द करते हुए वेग से नासिकाओं द्वारा पूरक करके कुम्भक करे और फिर रेचक। इससे चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है।

मूर्च्छा—

पूरक करके आलम्धर-बन्ध खूब दृढ़ रीति से लगाए और फिर वायु, बहुत धीरे धीरे छोड़े। इससे मन की मूर्च्छा होती है।

प्लाविनी—

पवन को खाया जाय ऐसा पवन उदर में भरकर उदरस्थ आकाश तक खड़ास से इसे निकाल दिया जाय। यह आठ प्राणा-

याम प्रतिदिन करने चाहिएं। यह शरीर की सारी नाड़ियाँ शुद्ध करने में बहुत सहायक होते हैं।

मन की शुद्धि—

नाडी-शुद्धि के अतिरिक्त मन की शुद्धि भी आवश्यक है। उपनिषद् में बतलाया है कि मन अन्न से बनता है। वैसे तो सारा शरीर ही अन्न से बनता है, परन्तु शरीर अन्न के स्थूल भाग से बनता हैं और मन सूक्ष्म भाग से। जिस भावना अथवा जिस साधन से अन्न कमाया जायगा, उसका सूक्ष्म प्रभाव मन पर अवश्य पडेगा। यदि अन्न कमाने में झूठ, दम्भ, मक्कारी या पर-पीड़ा को काम में लाया गया है तो उस अन्न के खाने वाले के मन पर वैसा ही प्रभाव पडेगा। यह प्रभाव शीघ्र ज्ञात हो या न हो, परन्तु किसी न किसी समय यह प्रभाव जागृत होकर मनुष्य को वैसे ही कर्म करने पर बाधित कर देता है, यह निश्चित बात है। यह खोटे अन्न ही का तो प्रभाव था, जिसने भीष्म पितामह जैसे व्रतधारी बाल-ब्रह्मचारी को विवश कर दिया कि वह सत्य और न्याय का पक्ष छोड़ कर अत्याचारी दुर्योधन का साथ दें। भीष्म पितामह ने स्वयं महाभारत में अन्न के इस प्रभाव को माना है। इसलिए मन की शुद्धि के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हमारा अन्न शुद्ध हो, यह धर्म तथा अपने बाहु-बल से कमाया गया हो। इसके साथ अन्न ऐसा खाया जाय जो विकार पैदा करने वाला न हो, तामसिक न हो। जो लोग लाल मिर्चें तथा चाय[1]-काफी इत्यादि का अधिक प्रयोग करते हैं, उनके स्वभाव में कडुवापन बढ जाता है, सहनशीलता कम हो जाती है और उनका मन अधिक चञ्चल हो उठता हैं, वह देर तक एक ही आसन में बैठ नहीं सकते। इटली के भक्त पाइथा-गोरस (Pythagoras) का यह सिद्धान्त था कि

[1] औषधिरूप में चाय काफी का प्रयोग निषिद्ध नहीं और शीत-प्रधान देश में इनका सेवन हानिकर नहीं।

दोनों नासिकाओं से रेचन करे। यह प्राणायाम बार-बार करने से रूप-लावण्य बढ़ता है, यह शीतल प्राणायाम है।

शीतली—

ओष्ठों से बाहर निकली हुई जिह्वा को पक्षी की चंचु के समान बनाकर वायु का आकर्षण करके नासिका के छिद्रों से शनैः शनैः रेचक करे।

ज्वर पित्त तृषा को दूर करता है। यह शीतल प्राणायाम है।

भस्त्रिका—

कोई भी आसन लगाकर भस्त्रिका करे। गीवा और उदर, समान रखे, मुख बन्द रखे, दोनों नासिका से पूरक करे और बिना कुम्भक किए रेचन करे। लोहार की धौंकनी के समान पूरक रेचन करे, १०-१५-२० बार करके फिर पूरक करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः इड़ा पिंगला से पवन छोड़ दे। और पुनः पूरक रेचक आरम्भ करे फिर १०-१५ २ बार करके कुम्भक करे और फिर शनैः शनैः पवन छोड़ दे। वात पित्त कफ को हरता है, जठराग्नि को बढ़ाता है।

भ्रामरी—

भ्रमर के समान शब्द करते हुए वेग से नासिकाओं द्वारा पूरक करके कुम्भक करे और फिर रेचक। इससे चित्त में आनन्द की वृद्धि होती है।

मूर्च्छा—

पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगा दृढ़ रीति से लगाए और फिर वायु, बहु धीरे धीरे छोड़े। इससे मन की मूर्च्छा होती है।

प्लाविनी—

पवन को खाया जाय ऐसा पवन उदर में जाकर ठहरता जाय तब यत्नपूर्वक से इसे निकाल दिया जाय। यह आठ प्राणा

याम प्रतिदिन करने चाहिए। यह शरीर की सारी नाड़ियाँ शुद्ध करने में बहुत सहायक होते हैं।

मन की शुद्धि—

नाड़ी-शुद्धि के अतिरिक्त मन की शुद्धि भी आवश्यक है। उपनिषद् में बतलाया है कि मन अन्न से बनता है। वैसे तो सारा शरीर ही अन्न से बनता है, परन्तु शरीर अन्न के स्थूल भाग से बनता है और मन सूक्ष्म भाग से। जिस भावना अथवा जिस साधन से अन्न कमाया जायगा, उसका सूक्ष्म प्रभाव मन पर अवश्य पड़ेगा। यदि अन्न कमाने में झूठ, दम्भ, मक्कारी या पर-पीड़ा को काम में लाया गया है तो उस अन्न के खाने वाले के मन पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यह प्रभाव शीघ्र ज्ञात हो या न हो, परन्तु किसी न किसी समय यह प्रभाव जागृत होकर मनुष्य को वैसे ही कर्म करने पर बाधित कर देता है, यह निश्चित बात है। यह खोटे अन्न का ही तो प्रभाव था, जिसने भीष्म पितामह जैसे व्रतधारी बाल-ब्रह्मचारी को विवश कर दिया कि वह सत्य और न्याय का पक्ष छोड़ कर अन्यायी दुर्योधन का साथ दें। भीष्म पितामह ने स्वयं महाभारत में अन्न के इस प्रभाव को माना है। इसलिए मन की शुद्धि के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हमारा अन्न शुद्ध हो, वह धर्म तथा अपने बाहुबल से कमाया गया हो। इसके साथ अन्न ऐसा खाया जाय जो विकार पैदा करने वाला न हो, तामसिक न हो। जो लोग लाल मिर्चें, [illegible] चाय [illegible] इत्यादि का अधिक प्रयोग करते हैं, उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन बढ़ जाता है, सहनशीलता कम हो जाती है और उनका मन अधिक चञ्चल हो उठता है। वह देर तक एक ही आसन में बैठ नहीं सकते। इसलिए ही तो महात्मा पाइथागोरस (Pythagoras) का यह सिद्धान्त था कि

[illegible]

मनुष्य का मन उन वस्तुओं पर निर्भर है, जो भोजन द्वारा उसके पेट में जाती हैं।

मन की शुद्धि का दूसरा उपाय यह है कि इसको बुरे संकल्पों तथा विचारों से अलग रखा जाय। मन एक ऐसी शक्ति है, जो कभी भी चुपचाप होकर बैठ नहीं सकती। इसीलिए इसे गीता में "चंचल तथा प्रमथन स्वभाव वाला" कहा गया है। यह निश्चल तो होगा नहीं इसे विचारों से शून्य करने के लिए भी बहुत लम्बा समय लगेगा। इसलिए पहले मन को शुभ-संकल्पों में लगाना चाहिए। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में इसीलिए छः ऐसे मन्त्र आते हैं, जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना है कि "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" अर्थात् मेरा मन सदा शिव-संकल्प वाला हो।

जब सत्-संकल्प तथा सुविचार मन में आ जायेंगे तो फिर खोटे विचार मन में कोई स्थान न पाकर स्वयमेव लौट जायेंगे।

प्रीतम-छबि नैनन बसी पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिर जाय॥

ब्रह्मचर्य—

इसप्रकार जब मन्दिर के बाहर और भीतर की सफाई हो जाती है, तब इस मन्दिर में बैठ कर भगवान् की आराधना का अधिकार भक्त को प्राप्त हो जाता है, तब वह प्रभु-भक्ति के महान् द्वार में प्रवेश करता है, तब वह उपासक बनता है, प्रभु के समीप बैठता है और भगवान् के निकटतर हो जाता है। परन्तु इन सब बातों के साथ यह आवश्यक बात सदा अपने सम्मुख रखनी चाहिए कि प्रभु-मन्दिर की नींव ब्रह्मचर्य है। जो लोग अपने शरीर के जीवनिक-तत्त्व और जौहर को बाहर फेंकते रहते हैं, और इसकी रक्षा नहीं करते वह अपनी इस नादानी पर रोयेंगे, वह क्षणिक झूठे तथा कल्पित आनन्द के लिए अपना अनमोल रत्न गँवा रहे हैं, वह अपने हाथों से अपने

पाँव पर कुल्हाडा चला कर अपना सत्यानाश कर रहे हैं। वीर्य्य शरीर में मन, और प्राण ही को नहीं अपितु आत्मा को भी शक्ति देने वाली वस्तु हैं। इस शरीर में आत्मा को यदि कुछ प्राप्त हो सकता है तो वीर्य्य ही से। आत्मा है सूक्ष्म, यह किसी स्थूल वस्तु को तो ग्रहण करेगा नहीं, हाँ, सूक्ष्म को ग्रहण करेगा, और यह सूक्ष्म-तत्त्व वीर्य्य ही से बनता है। जब इसका भण्डार शरीर में जमा हो जाता है तो इसका फिर इत्र खिंचता है और उससे ओज पैदा होता है। यह ओज एक सूक्ष्म-तत्त्व है, जिसे आत्मा ग्रहण करता है और महा-बलवान् होकर ओजस्वी बन जाता है। ओजस्वी आत्मा ओजस्वी परमात्मा की मित्रता का अधिकारी बनकर उसके बराबर बैठने के लिए कहता है—

ओजोऽसि ओजो मयि देहि।

अतएव, प्रभु-मन्दिर के इस मूल-तत्त्व की ओर विशेष ध्यान देना होगा। स्थूल-भोजन या अन्न का किस प्रकार सूक्ष्म-तत्त्व बनता है, उसकी विधि यह है —

जो अन्न खाया जाता है उसको तेजाब जीर्ण कर देता है और जाठराग्नि से पक्व रस बनता है, रस फिर रक्त में परिवर्तित होता है। रक्त का इत्र खिंचता है तो फिर माँस बनता है, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य। इस वीर्य्य की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। यदि इसे शरीर में सम्भाल कर रखा जाय, बुरे विचारों, गन्दी कहानियों और अश्लील सिनेमाओं से इसे बचाया जाय, और इसका रुख नीचे की बजाय ऊपर को किया जाय, तब यह वीर्य बहुत देर के पश्चात् परिपक्व हो कर 'ओज' बनने लगता है। ओज भी दो प्रकार का होता है। एक 'पर-ओज', दूसरा 'अपर-ओज'—यह ओज अन्त में सूक्ष्म हो जाता है और आत्मा के काम आता है। वेद भगवान् ने तो ब्रह्मचर्य को भी प्रभु-प्राप्ति का बड़ा साधन बतलाया है

और स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि जो गृहस्थ नियमानुकूल चलते हुए धर्म-मर्यादा में रहते हैं, उनकी गणना ब्रह्मचारियों में ही होती है। हठयोग-प्रदीपिका में लिखा है—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' —बिन्दु के पतन से मरण और बिन्दु की रक्षा से जीवन होता है।

प्रश्न-उपनिषद् में लिखा है—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं

येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ (प्र १-१५ का उत्तरार्ध)

जो ब्रह्मचर्य-धारण पूर्वक तप करते हैं, जो सत्य से विचलित नहीं होते उन्हीं को इस शरीर में ही ब्रह्मलोक, ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

अतएव वीर्य की बहुमूल्यता को सोचते हुए इसे अपनी आत्मा के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

वही है भगवान् के मन्दिर का मूलतत्त्व। इसके गिरने से मन्दिर गिरने लगता है और जब मन्दिर गिरने लगे तो पुजारी का सर्वनाश सामने नृत्य-ताण्डव करने लगता है। इसलिए पूरे बल से इसकी रक्षा करनी चाहिए।

प्रभु-भक्ति की विधि

"जो मनुष्य सत्य, प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परम-कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष सुख देकर सदा के लिए आनन्दयुक्त कर देगा।"
—दयानन्द

सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में स्वामी जी लिखते हैं—
"जो उपासना का आरम्भ करना चाहे उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रखे, सर्वदा सबसे प्रीति करे, सत्य बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो।"

यह तो हुई उपासना की तैयारी, परन्तु उपासना किस प्रकार करनी चाहिए—इसका वर्णन महर्षि इस प्रकार करते हैं—

"जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में, हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ पहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।"

यजुर्वेद के एकादश अध्याय के पाँचवें मन्त्र का आशय लिखते हुए स्वामी दयानन्द जी ने यह बतलाया है, कि—

'योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिए कि योग में कुशल विद्वानों का संग करें उनके संग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। जैसे विद्वान् का प्रकाशित किया हुआ मार्ग सबको सुख से प्राप्त होता है वैसे ही योगाभ्यासियों के संग से योग-विधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस संग और ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए उस योग-विधि के साथ ही सब मनुष्य परब्रह्म की उपासना करें।

तात्पर्य यह है कि योग-विधि के बिना उपासना अथवा भक्ति नहीं हो सकती और न ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। योग-विधि क्या है ? यह योग दर्शन[1] में बताया गया है। यदि कोई भक्त यह

---

१ योग के आठ अंग बताये गए हैं—१ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार, ६ धारणा ७ ध्यान, ८ समाधि।

यम—१ अहिंसा २ सत्य ३ अस्तेय (चोरी न करना) ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह (लोभ से वस्तुओं के इकट्ठा करने का लोभ न करना)।

नियम—१ शौच २ सन्तोष ३ तप ४ स्वाध्याय ५ ईश्वर प्रणिधान (सब काम ईश्वरार्पण)।

आसन—सिद्ध, पद्म सुख आसन आदि।

प्राणायाम—रेचक पूरक, कुम्भक, बाह्य आदि।

प्रत्याहार—इन्द्रियों को निर्विषय करना।

धारणा—नासिका के अग्रभाग हृदय या भृकुटि में चित्त को स्थिर करना।

ध्यान—धारणा का लगातार बने रहना।

समाधि—ध्यान करते करते, ध्याता और भगवान् का एक हो जाना। भक्त और भगवान् का फिर कोई भेद नहीं रहता।

समझे बैठा है कि यम नियमों के पालन किए विना और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को प्रयोग में लाए विना ही वह प्रभु-दर्शन कर लेगा, तो वह भूलता है। थोड़ा बहुत जितना भी हो सके, इन साधनों की भट्टियों में से भक्त या उपासक को गुजरना ही पड़ता है। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखते हैं—"यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तबतक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।"

जबतक मन यम-नियमों की मंजिलें तय नहीं करता, तबतक भक्ति का अधिकार ही प्राप्त नहीं होता। मन की वृत्ति इस प्रकार की हो जानी चाहिए कि उसमें हिंसा के भाव न आए, वह चोरी का चिन्तन भी न करने पाए, सत्य और ब्रह्मचर्य पर आरूढ रहे, लोभ में अधिक न फसे और शौच, सन्तोप तथा तप से अपनी वृत्ति भक्तों की-सी बना ले। ऐसी वृत्ति बनाने में ईश्वर पर पूर्ण भरोसा, उसी की इच्छा पर रहने का स्वभाव डालना और वेद, उपनिषद्, गीता आदि का स्वाध्याय बहुत सहायक होते हैं।

इसके पश्चात् आसन की बारी आती है। कितने ही आसन तो केवल शरीर-रक्षा के लिए हैं और कुछ मन को एकाग्र करने के निमित्त। पद्म-आसन और सिद्ध-आसन विशेप रूप से प्रयोग में आते हैं। परन्तु आप चाहे किसी भी आसन में बैठें, सुख से बैठें, और वह आसन ऐसा हो, जिसमें आप विना थकान के कम से कम ३॥ घण्टे बैठ सकें। कोई एक आसन ग्रहण कर लीजिए और उसीमें शरीर को विना हिलाए कम से कम ३॥ घण्टे प्रति दिन बैठने का अभ्यास कर लीजिए। मन को स्थिर करने से पूर्व शरीर

को काबू करने की आवश्यकता है। जिसका शरीर ही वश में नहीं उसका मन कदापि काबू नहीं आ सकता। एक ही आसन में निरन्तर ३।। घण्टे निश्चल बैठने के अभ्यास के साथ प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिए। महर्षि ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के उपासना-विषय में लिखा है—"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना हो सके उतना बाहर ही रोक दे। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेकर पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारंबार मग्न करना चाहिए।"

शरीर आसन से स्थिर होगया प्राण प्राणायामसे स्थिर होगया तो फिर मन का स्थिर हो जाना स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि प्राण के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्राणायाम—

प्राणायाम आरम्भ करने से पहले दोनों नासिकाओं को स्नान कराना आवश्यक है, नासिका-स्नान की विधि यह है कि हाथ पर या लोटे में जल लेकर नासिकाओं में श्वास द्वारा ऊपर खींचना चाहिए और फिर उस नाके फेंक देना चाहिए। इस प्रकार पाँच-छ बार कर लेने से नासिकाएं स्वच्छ हो जायगी और [illegible] कम हो जायगा। प्राणायाम भी तभी भली भाँति हो सकेगा।

आसन में बैठकर कमर और गर्दन सीधी रखनी चाहिए।

बहुत अधिक तन कर भी बैठना नहीं चाहिए। पहले चन्द्र (बाएं) स्वर से श्वास ऊपर खींच कर सूर्य (दाँये) स्वर से छोड़ देने चाहिएँ। तब सूर्य से ऊपर खींच कर चन्द्र से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सात-आठ बार करने के पश्चात् दोनों स्वरों से प्राण अन्दर ले जाइए और नाभि तक अच्छी तरह भर लीजिए और आसानी के साथ जितना रोका जा सकता है, रोकिए। तब शनैं शनैं नासिकाओं द्वारा ही प्राण को बाहर फेंक दीजिए और पेट वायु से सर्वथा खाली कर दीजिए। पेट वायु से खाली करते समय जननेन्द्रिय ऊपर की ओर खिंचनी चाहिए। प्राण बाहर फेंक कर फिर इन्हें बाहर ही रोके रहिए। जब मन घबराने लगे तो धीरे-धीरे प्राण अन्दर भर लीजिए। प्राणायाम का सबसे सुगम तरीका यही है। इसीमें रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम हो जाते हैं। यह प्राणायाम बिना किसी से सीखे भी किया जा सकता है। इससे आगे फिर किसी सच्चे वीतराग गुरु की शरण लेनी आवश्यक है।

प्राणायाम कितने ही प्रकार के हैं। कुम्भक प्राणायाम का उल्लेख पहले कर दिया है इनमें से मुझे जो प्राणायाम करने का अवसर मिला है और जिनसे लाभ भी हुआ है, उनका उल्लेख यहाँ किए देता हूँ—

भस्त्रिका:—

प्राणायाम का कुछ वर्णन पहले हो चुका है। यह लोहार की धौंकनी की तरह होता है। कमर गर्दन सीधे रखकर सिद्धासन में बैठकर मुख बन्द रखकर दोनों नासिकाओं से प्राण अन्दर खींचना होता है और फिर बिना रोके बाहर फेंकना होता है। बार-बार ऐसा करके फिर कुम्भक करके शनैं शनैं श्वास बाहर निकाल देने चाहिए।

सूर्य-भेदन:—

चन्द्र नासिका से वायु अन्दर खींचे और कुम्भक करे अर्थात् वायु को पेट में पूरे बल के साथ रोके रहे, फिर सूर्य नासिका से शनैं

शनैः पवन छोड़े। इससे मस्तक की शुद्धि होती है।

उज्जायी प्राणायाम:—

दोनों नासिकाओं से पूरक करे, मुख बन्द रखे, नासिकाओं से मधुर ध्वनि भी करे, हृदय पर्यन्त पवन चली जाय तब दोनों नासिका बन्द करके जालन्धर-बन्ध (ठोडी को हृदय से ४ अंगुल ऊपर छाती पर दृढ़ लगा दे) करे, कुम्भक करे, फिर चन्द्र स्वर से रेचक करे, रेचक करने से पूर्व पवन मुख में से आवे, परन्तु रेचक नासिका ही से करे।

केवल प्राणायाम—

रेचक पूरक को छोड़कर मुख से जो वायु-धारण करना है उसे केवल कुम्भक कहते हैं, अर्थात् प्राण को जहाँ का तहाँ रोक देना। इससे धारणा-शक्ति बढ़ती है।

प्राणायाम से जब प्राण स्थिर होने लगता है और प्राण के साथ मन भी चंचलता छोड़ने लगता है, तो इन्द्रियाँ स्वयमेव ही काबू में आ जाती हैं, इसीको प्रत्याहार कहते हैं।

अब धारणा और ध्यान की बारी आती है। धारणा के लिए हृदय में अथवा भ्रूमध्य में मन को स्थिर कीजिए और इसका सुगम उपाय यह है कि हृदय अथवा भ्रूकुटि में मन ही से ॐ का अक्षर लिखा हुआ देखिए और इसीका मानसिक जप कीजिए। मुण्डकोपनिषद् में बतलाया है कि—'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (ॐ) ओंकार रूप से आत्मा का ध्यान करो, ॐ ही भगवान् का पवित्र नाम है, इसी रूप में उसका ध्यान करने की आज्ञा उपनिषद् ने दी है, और कठोपनिषद् में भी तो यही कहा है—(क० उ० १।२।१५)

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपों को जिस

की प्राप्ति के साधक कहते हैं, जिसकी इच्छा से (मुमुक्षु-जन) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूं, ॐ यही वह पद है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
कठ० १–२–१६

निश्चयरूप से यह अक्षर ॐ ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम सबसे श्रेष्ठ है, इस अक्षर, ॐ, को जानकर जो पुरुष जिस वस्तु की कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
कठ० १–२–१७

ओ३म् का यह आलम्बन (सहारा) श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है, इसी आलम्बन को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है॥

इस ॐ का ध्यान तथा जाप विशेष लाभ देता है। इस जप में न जिह्वा हिले न कण्ठ, केवल मन ही से जाप हो। जब ॐ का अक्षर मन से हृदय अथवा भृकुटी में लिखा जायगा तो आरम्भ में वह शीघ्र मिटता दीखेगा, परन्तु आप उसे बार बार लिखने और देखने का प्रयत्न कीजिए। इस प्रकार अभ्यास से एक समय ऐसा आ जायगा कि वह ॐ स्थायी रूप में सुनहरी अक्षरों में लिखा हुआ दृष्टिगोचर होने लगेगा, तब वह न मिटेगा।

जब यह अवस्था प्राप्त हो जाय तो समझिए कि ध्यान लगने लगा है। ऐसी अवस्था में एक ऐसा आनन्द प्राप्त होगा, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आपका मन यही चाहेगा कि घण्टों इसी अवस्था में बैठे रहें और जब आप दूसरे सांसारिक काम करेंगे

तब भी अन्दर से यही प्रेरणा होगी कि चलो अब प्रिय-दर्शन करें। तब आपकी आँखें सजल हो उठेंगी और आपके मुख से अकस्मात् निकल पड़ेगा—

जी चाहता है फिर वही फुरसत कि रात दिन।
बैठे रहें तसव्वुरे, जानाँ किये हुए॥

इससे आगे की अवस्था का वर्णन कुछ असम्भव सा है, इसे समाधि कहते हैं। भक्त-शिरोमणि योगिराज भगवान् दयानन्द ने इस अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है—"जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होकर अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानकर, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला मन से जिस चीज का ध्यान करता है, ये तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द-स्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारकर थोड़ा समय भीतर रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है।"

इसी अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले के लिए तो ईशोपनिषद् में यह कहा गया है—(ईश ७)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

जहाँ (पूर्णरूप) सब भूत आत्मा ही हो गया वहाँ एकत्व को देखते हुए विज्ञानी को क्या शोक है? और वहाँ पर शोक और मोह रह ही कैसे सकते हैं। जहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का स्रोत बह रहा हो वहाँ तो सारे संकट समाप्त हो जाते हैं, हर ओर आनन्द

ही आनन्द दिखाई देता है। द्वैत जाता रहता है, सब एक ही आनन्दघन रह जाता है। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के पहले ही सूक्त का मन्त्र है—अथर्व० (२।१।१)

वेनस्तत्पश्यत् परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमाना स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥

"विद्वान् उस परमात्मा को परम-गुहा (हृदय की गुफा) में देखता है, जहाँ विश्व एक-रूप हो जाता है। यह प्रकट पृथिवी भी व्यवहार के अयोग्य हो जाती है, तत्वज्ञानी बाकी जगत् को भी व्यवहार में आने के अयोग्य समझता है।" अर्थात् जिस समय भक्त प्रभु-चिन्तन में हृदयस्थ होकर मग्न हो जाता है, तो उसके लिए समस्त जगत् एकरूप प्रतीत होता है, और यह सब कुछ व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगता है। प्रभु-चिन्तन में वह इतना लवलीन हो जाता है कि इनकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। केवल आनन्दघन ही उसके सामने रह जाता है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् (२ १५) भी तो यही पुकार उठा है—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

"जब वह युक्त होकर आत्म-तत्त्व के दीपक से उस ब्रह्म-तत्त्व को देख लेता है, जो अजन्मा अटल और सारे तत्त्वों से शुद्ध निखरा हुआ है, तब वह उस देव को जानकर सारी फाँसों से छूट जाता है।"

लेकिन यह स्मरण रखिए कि जितनी शीघ्रता से यह बातें कह दी गई हैं, उतनी शीघ्रता से होती नहीं। इनमें बहुत लम्बा समय लग जाता है। इसलिए पूर्ण श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम से इन पर आचरण करना होगा। आलस्य को त्याग कर निम्न पर आचरण कीजिए—

१ रात को यदि तीन बजे उठ सकें तो अच्छा है अन्यथा चार

बजे अवश्य उठ जाइए और एक घण्टा ओ३म् अथवा गायत्री का जाप कीजिए। स्वामी जी के जीवन-चरित्र में लिखा है कि कलकत्ते में एक बार पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने स्वामी जी से पूछा—"ईश्वर से मिलने का क्या उपाय है?" स्वामी जी ने कहा—"बहुत दिन तक योग करने से ईश्वर की उपलब्धि होती है।" तब उन्होंने पूछा—"वह योग कैसा है?" उत्तर में स्वामी जी ने अष्टांग-योग की व्याख्या करके सुनाई और उपदेश दिया कि तीन घड़ी रात रहे उठकर गायत्री का अर्थ-सहित ध्यान किया करो। जो भी लोग स्वामी जी के साथ रहते थे, उन्हें वह सदा प्रातःकाल उठने का उपदेश देते थे।

२. पाँच बजे स्नानादि से निवृत्त होकर प्राणायाम कीजिए। पहले एक-एक नासिका से फिर दोनों नासिकाओं से, रेचक पूरक, कुम्भक कीजिए। इसके पश्चात् भस्त्रिका प्राणायाम करें और तब शान्त होकर भृकुटी अथवा हृदय में ध्यान लगाएं। इसकी विधि पहले लिखी जा चुकी है।

३. ध्यान के समय ओ३म् का जाप भी करते रहें।

४ तब सन्ध्या हवनादि करें।

५. दोपहर को, या दिन में जब भी कोई समय मिले तो गायत्री-मन्त्र और ओ३म् का सार्थक जाप कर लिया करें।

६ सायंकाल को फिर प्रातःकाल की तरह ध्यान करें।

मन की बात

भगवान् के मन्दिर में प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक नाड़ी काम आने वाली है। नाड़ियों[1] द्वारा ही उपासना करनी होती है। परन्तु इन सबमें सर्वोपरि मन है और सच पूछिए तो यह मन ही की कृपा है कि हम इस शरीर में बैठे हैं। प्रश्न-उपनिषद् में तीसरा प्रश्न यही है कि यह इस शरीर में कैसे आता है ? इसका उत्तर उपनिषद् ने यह दिया है—

मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे।

अर्थात् मन के काम से यह शरीर में आता है "जो मन से शुभ-अशुभ संकल्प किए जाते हैं, उनके कारण से यह शरीर में आता है।"

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

"मन ही मनुष्य के बन्धन का और मन ही मनुष्य के मोक्ष का कारण है।" वेद-भगवान् ने तो सबसे पहले यह आदेश किया है कि मन के बिना कोई भी काम नहीं किया जा सकता—

यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजु० ३४—२)

---

१ उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। सित इडा और असित पिङ्गला—ये दोनों जहाँ मिलती हैं, उसको सुषुम्णा कहते हैं। उसमें योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाता है। ऋग्वेदादि०

यही है वास्तव में कुञ्जी सब कामों की यदि हाथ में आ जाय तो सब कुछ मिल जाता है। निस्सन्देह, परमात्मा तक मन की भी पहुँच नहीं परन्तु यह एक प्रमाणित सत्य है कि प्रभु-निवास के द्वार तक पहुँचा भी यही सकता है। इसकी शक्ति बहुत बड़ी है और श्री शङ्कराचार्य जी ने तो इसकी महिमा और भी बढ़ा दी है। किसी ने प्रश्न पूछा—जितं जगत् केन? भगवान् ने उत्तर दिया—"मनो हि येन। 'संसार को किसने जीता? जिसने मन पर विजय पा ली।' और छांदोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७ खण्ड ३ के आदि ही में यह कहा है—मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति "मन निस्सन्देह आत्मा है, मन लोक है, मन ब्रह्म है, मन की उपासना करो।' अर्थात् मन ही लोक तथा ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। लोक परलोक दोनों मन ही से सिद्ध होते हैं, ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में एक बहुत सुन्दर मन्त्र है जिसमें यह आदेश किया है कि—

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्।

(ऋ ५—३०—४)

हे ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले! यदि तू समर्थ होकर मन को स्थिर करे तो तू अकेला ही शत्रुओं को भी युद्ध के लिए जीत सकता है—पर्याप्त है।

मन की इतनी बड़ी महिमा है चाहे इस लोक का अभ्युदय प्राप्त करना हो चाहे ब्रह्मलोक में पहुँचना हो दोनों के लिए मन का स्थिर करना अनिवार्य है।

इसके साथ यह सदा सम्मुख रखिए कि मन और प्राण अथवा वीर्य का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हठयोग-प्रदीपिका में एक बड़ा मार्मिक श्लोक आता है—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः॥

मनुष्यों का शुक्र (वीर्य) चित्त के आधीन है अर्थात् चित्त के चलायमान होने पर वीर्य भी चलायमान हो जाता है, इससे शुक्र मन के वशीभूत है। और मनुष्यों का जीवन शुक्र के आधीन है अर्थात शुक्र की स्थिरता से जीवन और शुक्र की नष्टता से मरण होता है, इसलिए जीवन शुक्र के आधीन है, इसीलिए यह आवश्यक है कि शुक्र और मन की भली प्रकार यत्न से रक्षा करे। इसका प्रयोजन यही है कि यदि जीवन की कामना, है तो मन को स्थिर रखने का प्रयत्न करो।

ऐसा है यह मन जो इस प्रभु-मन्दिर में वास करता है। जब तक इसको अपना साथी अथवा मित्र न बना लिया जाय, तबतक यह बाधक बन कर हमें तंग करता रहेगा और प्रभु-मन्दिर में पहुँच कर भी प्रभु-दर्शन से वञ्चित रखेगा। गङ्गा में खड़े होकर भी जलपान नही करने पाएंगे, प्यासे के प्यासे ही रह जाएंगे। इसलिए सबसे पहले मन की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। एक उर्दू कवि ने भी कहा है—

> बड़ी नायाब[1] शै है यह दिल बेताब[2] सीने में।
> हजारों कीमती लालो[3] गोहर हैं इस दफ़ीने[4] में॥

और एक दूसरे कवि को तो "दिल" ही भगवान् का निवास-स्थान दिखाई दिया, वह कहता है—

> खानाये[5] दिल में मिले वह जलवा गर।
> दर[6] बदर भटका किये जिस के लिये॥

तो इसकी ओर से नेत्र बन्द नहीं किए जा सकते, अपितु पहले इसीकी शरण लेनी पड़ती है। यदि मन हाथ में आ गया तो फिर

१ न मिलने वाली। २ चञ्चल। ३ हीरे पन्ने रत्न। ४ ख़ज़ाना। ५ मन के अन्दर। ६ प्रत्येक द्वार पर।

प्रभु के दरबार में बेखटके पहुँचा जा सकता है। यह कार्य कहने को तो सरल है, किन्तु करने को अत्यन्त कठिन है। गीता में अर्जुन भी तो यही पुकार उठा था—हे महाराज ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन-स्वभाव वाला है तथा बहुत दृढ़ और बलवान् है। इसलिए इसको वश में करना मैं वायु की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ।" और कृष्ण भगवान् ने भी यह कहा कि निस्सन्देह मन बड़ा चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है, किन्तु धैर्य देकर यह भी कहा कि अभ्यास और वैराग्य से यह वश में किया जा सकता है।

पहला साधन—ज्ञान

मन को वश में करने का सबसे पहला साधन है 'ज्ञान'। यदि यह ज्ञान हो जाय कि यह संसार क्या है, संसार की वस्तुओं की वास्तविकता और मूल्य क्या है, तो फिर यह इनके पीछे मारा-मारा न फिरेगा। जब यह पता मिल गया कि मनुष्य का सौन्दर्य केवल मल-मूत्र का परिणाम है तो फिर मन उस सौन्दर्य पर लट्टू क्यों होगा ? जब विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया कि हीरा और कोयला एक जैसे तत्त्वों के बने हुए हैं, तो फिर हीरे की प्राप्ति के लिए मन कोई टेढ़ी चाल न चलेगा। जब यह ज्ञान हो गया कि यह जो कुछ दिखलाई देता है, वह सब नश्वर है, तो फिर इन खिलौनों के लिए मन दुखी नहीं होगा तब विषय-वासना नहीं सतायगी तब मोह, लोभ अहंकार आदि कष्ट न दे सकेंगे। सच ही तो कहा है कवि ने—

> जब-लगी तब लग रहे विषय-वासना चाहि।
> ज्ञान-भान की प्रभा में जब तम नाशत नाहिं॥

इसकी दौड़-धूप, उथल-पुथल तभीतक ही है जबतक इसे सांसारिक वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान नहीं हो जाता। इसलिए सब से पूर्व मन को समझाइए और उसे कहिए कि देख भाई ! किस

सुन्दरता पर तू रीझा है, वह तो पर्दे से ढकी गदगी है। इस पर्दे को हटा दे, इस गदगी को बाहर आने दे और फिर देख कि तू मुँह फेर लेता है या नहीं? जिस धन के पीछे तू पड़ा है, और जिसके लिए तू नित्य नये झूठ तथा दम्भ करता है, वह भगवान् की नदियों और पर्वतों से निकली हुई धातुएँ ही तो हैं, वह मिट्टी और पत्थर ही तो हैं और फिर वह सदा किसी के पास ठहरते नहीं। आज तूने अत्यन्त यत्न से इकट्ठा किया, प्रभु की प्रजा को सताकर, अनाथ बच्चों के अधिकार पर छापा मारकर, निस्सहाय विधवाओं के वस्त्र उतारकर, निर्बल लोगों और जातियों पर आक्रमण करके, लाखों मनुष्यों के गले काटकर, निर्धन, दुःखी हरिजनों की मेहनत-मजूरी, कमाई को टेक्स लगाकर, और दूसरे नामों से लूटकर, भोले-भाले, सीधे-सादे प्रभु-प्रेमियों को कई चालों में घेरकर—यदि तूने इन ठीकरियों को इकट्ठा कर भी लिया तो क्या विश्वास है इस बात का कि कल तक यह तेरे पास रहेंगी? तुझसे अधिक बलवान्, अधिक चालबाज, अधिक कपटी सब कुछ छीन लेगा या तू ही मृत्यु का ग्रास बन जायगा?

इसीप्रकार का ज्ञान जब मन को मिलेगा तो फिर यह नहीं हो सकता कि यह नश्वर सांसारिक पदार्थों के पीछे भटकता फिरे और अपने धर्म से विमुख हो जाय, तब यह धर्माचरण पर आरूढ हो जायगा, नेक कमाई की ओर ध्यान देगा और अपने आपको विषय-वासनाओं से सुरक्षित रखेगा। इसके साथ यह भी जानना होगा कि परमात्मा क्या है? यदि इस शरीर में रहते हुए उसे न जाना तो भारी हानि होगी। केन-उपनिषद् में कहा है —

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (२–५)

"यहाँ (इसी जन्म में) यदि जान लिया तो ठीक है, यदि

यहाँ नहीं जाना तो बड़ा भारी नाश है। अतएव धीर पुरुष सब भूतों में उसको जानकर इस लोक से अलग हो अमृत होते हैं।"

इसीप्रकार बृहदारण्यक-उपनिषद् ने भी यही चेतावनी दी है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥ (४-४-१४)

"यहाँ रहते हुए हम उसको जान सकते हैं और यदि मैं यहाँ ज्ञान-हीन रहा तो एक भारी विनाश है, जो उसको जानते हैं वे अमृत होते हैं, पर दूसरे दुःख ही अनुभव करते हैं।

दूसरा साधन—बुरे सङ्कल्पों की निवृत्ति—

ज्ञान-प्राप्ति से मन के नेत्र खुल जाने के पश्चात् भी यह सम्भव है कि किसी अवसर पर "तमाशा देखने के लिए ही यह फिसल पड़े। इसलिए दूसरा साधन मन को वश में करने का यह है कि "बुरे सङ्कल्पों से मन को बार-बार रोके। यह अभ्यास कुछ समय लेगा। आपने कई बार अनुभव किया होगा कि मस्तिष्क की सबसे पीछे की कोठरी में बैठे नेत्र बन्द करके जब मन्त्रों का मानसिक जाप करने लगते हैं तो थोड़ी देर बाद आप देखते हैं कि यह इधर उधर सब द्वारों को पार करके कहीं के कहीं निकल गए हैं और वहाँ अपनी मनमानी में लगे हैं। "अरे यह क्या! तुझे तो मन्त्र-जाप पर लगाया था तू यह क्या करने लगा? बस इसे इस प्रकार का न होने से रोकिए, यह आज्ञा के बिना किसी भी सङ्कल्प को हमारे अन्दर न आने पाए इसके लिए सब पर कड़ी निगरानी रखें। जब भी यह कोई बुरा सङ्कल्प लाकर आप तो तत्काल उस बुरे सङ्कल्प को मन से बाहर निकाल दीजिए। वेद भगवान् में इसके सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर मन्त्र आता है—

"परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये
वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः। (अथर्व ६-४५-१)

"हे मन के पाप ! दूर हो जा, भाग जा यहाँ से। यह क्या बुरी बात तू मुझे सिखलाने आया है ? जाओ, मुझे तुम्हारी कामना नहीं है, वनों के वृक्षों को जाकर चिपटो। मैं तो अपने मन के घर की सफाई में संलग्न हूँ।" जब भी कोई बुरा सङ्कल्प आने लगे, उसी समय पूरे बल के साथ इस मन्त्र द्वारा उसे बाहर धकेल दीजिए।

एक लड़का बड़ा नटखट था। मोहल्ले भरके लड़कों से लड़ता झगड़ता, स्त्री-पुरुषों, बच्चों-बूढ़ों सबको सताता। किसीका चरखा तोड़ दिया, किसीका दुपट्टा फाड़ डाला, किसीके चपत लगा दी, वह रोया, वह गिरा। इधर दौड़ा उधर दौड़ा, भागकर अपने घर आ जाता, लड़के की माता को नित्य ही उलाहने आने लगे। अड़ोसी-पड़ोसी उसकी माता के पास पहुँचे, बोले—"देखो मासी, यह तुम्हारा लड़का इस योग्य नहीं कि मुहल्ले में जाय। इसे अपने ही पास रखा करो।" माता ने लड़के को आज्ञा दी कि बस, अब तुम मेरे ही निकट बैठे रहो। अब कहीं न जा सकोगे तुम ! लड़का चुप-चाप बैठ गया, जैसे बहुत ही आज्ञाकारी और नेक हो। माता ने समझा, अब सुधर गया यह, लेकिन जैसे ही अपने धन्धे में लगी और लड़के ने देखा कि माता की आँख उधर है, झट खिसकने लगा। अभी दो ही कदम गया था कि माता ने देख लिया—"बैठ, कहाँ जाता है, बैठा रह, इसी स्थान पर, तू बाहर नहीं जा सकता।" लड़का फिर बड़े सुधरे हुए बालकों की भाँति बैठ गया। माता फिर काम में लगी, लड़का ताक में था कि अवसर मिले, और भाग निकलूँ। माता ने फिर देख लिया—"कहाँ जाता है, बैठा रह यहाँ ही, जब-तक तू प्रतिज्ञा नहीं कर लेता कि तू बाहर जाकर किसी को नहीं सताएगा, तब तक तुझे इसी कैद में रहना पड़ेगा।" लड़का फिर भीगी बिल्ली बनकर बैठ गया। माता अपना काम तो करती थी, परन्तु दृष्टि लड़के की ओर रखती थी। अन्त में लड़के की चञ्चलता दूर हुई और

उसने किसी को न सताने की प्रतिज्ञा की तब माता ने उसे बाहर जाने की आज्ञा दे दी।

इसीप्रकार मन पर कड़ी दृष्टि रखनी होगी। जबतक यह बुरे संकल्पों को छोड़ देने की प्रतिज्ञा नहीं करता, तबतक इसपर कड़ी निगरानी रखने की आवश्यकता है। बार-बार अभ्यास करने से यह मन अपनी चञ्चलता छोड़ने और बुरे संकल्पों से दूर रहने पर बाधित हो जाता है।

संकल्प के संस्कार को धोना—

कोई भी भला या बुरा संकल्प, उसके अनुसार चाहे कोई वचन बोला जाय या न, कोई कर्म किया जाय या न परन्तु मन पर अपना थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य छोड़ जाता है। इसी प्रभाव का नाम संस्कार है। इन संस्कारों ही से वृत्ति बनती है और मनुष्य को बुरे या अच्छे कामों में लगाती है। वृत्ति दो प्रकार की होती है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वृत्ति में काम क्रोध आदि सम्मिलित हैं और सूक्ष्म-वृत्ति में संस्कार। यह संस्कार ही मनुष्य के अधिक शत्रु हैं। यह जन्म जन्मान्तर तक साथ रहते हैं। कई बार ऐसा हुआ कि मनुष्य ने जो कर्म इस जन्म में भूलकर भी नहीं किए होते, न देखे और सुने होते हैं, वह कर्म यह मन करने लगता है। जब इसे इस जन्म के संस्कारों से निवृत्त किया तो ऐसे संकल्पों की रेखाएं मन पर देखी गईं, जिन्हें कभी स्वप्नों में भी नहीं देखा था। वास्तव में, यह वह सूक्ष्म संस्कार हैं, जो किसी पिछले जन्म में किसी संकल्प के कारण मन पर रह गए थे। इसलिए कोई भी खोटा या बुरा संकल्प मन में आने ही नहीं देना चाहिए और यदि बलपूर्वक आ ही जाय तो फिर क्या करें? प्रथम तो उसे तत्काल निकाल देने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि संस्कार की की रेखा मन पर रह ही जाय तो उसे धो कर मिटा डालें। इसकी

विधि यह है कि ओ३म् अथवा गायत्री-मन्त्र का जाप किया जाय। मन को शुद्ध करने में गायत्री-मन्त्र का जाप बहुत ही प्रबल सिद्ध हुआ है। परन्तु, मन्त्र के अर्थ भली- भाँति स्मरण कर लेने चाहिएं। ओ३म् तथा गायत्री-मत्र का-जाप न केवल नए बुरे सस्कारों को अपितु जन्म-जन्मान्तर के बुरे सस्कारों को भी दूर करने मे समर्थ है। यह अनुभूत बात है, इसके लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। सशय-बुद्धि रखने वाले कुछ लोग यह शका करते हैं कि गायत्री मत्र के जाप का मन की शुद्धि अथवा प्रभु-दर्शन से क्या सम्बन्ध है? इसमें तो सत्, चित्, आनन्द और जगदुत्पादक ईश्वर के दिव्य गुण का ध्यान करके और उसके शुद्ध स्वरूप को सामने रखके उस-से अपनी बुद्धि को प्रकाशित करने और प्रेरणा करने ही की तो प्रार्थना की गई है। इससे बुद्धि चमक जाय तो चमक जाय, और कुछ नहीं हो सकता। परन्तु, वह इस बात को भूल जाते हैं कि आत्मा के लिए सबसे पहली आवश्यक वस्तु और प्रभु-प्राप्ति का सबसे पहला साधन तो ज्ञान ही है और ज्ञान बुद्धि के निर्मल होने ही से प्राप्त होगा। आत्मा के दो काम हैं—ज्ञान-प्राप्ति और प्रयत्न करना। योग-दर्शन में भी ब्रह्म-प्राप्ति का सबसे प्रथम-साधन प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि ही को बताया गया है। योग-दर्शन १-२० में समाधि के साधन बताकर फिर यह दिखाया है कि समाधि से प्रज्ञा (बुद्धि) मिलती है। इस सूत्र में समाधि के साधन यह बताए गए हैं, प्रथम—पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए, फिर वीर्यवान् होना चाहिए, तब स्मृति का भण्डार खुलता है। इन तीनों बातों के हो जाने से भक्त की अशान्ति का नाश हो जाता है, चित्त शान्त और समाधिस्थ हो जाता है। तब प्रज्ञा-बुद्धि जाग उठती है और यही प्रज्ञा भगवान् के दर्शन कराने में पूरी सहायक बनती है। गायत्री-मन्त्र में बुद्धि के लिए इसीलिए प्रार्थना की गई है। योगियों ने योग-विद्या के अनुसार समाधि-अवस्था के पश्चात् जिस

ज्ञान को प्राप्त किया उसे गायत्री-मन्त्र का विधि-पूर्वक और पर्याप्त संख्या तथा पर्याप्त काल तक जाप करने वाले पा गए। अतएव गायत्री मन्त्र का जाप और उसके साथ ओश्म् का जाप भक्त के मन को बहुत शीघ्र प्रभु-दर्शन का अधिकारी बना देता है।

परन्तु बुरे संस्कारों की रेखाएं मिटाने के लिए यह देख लेना अत्यन्त आवश्यक है कि यह रेखाएं पड़ती कैसे हैं? ऋषियों ने मन तथा चित्त के छः मल बतलाए हैं, जिनसे बुरी रेखाएं पड़ जाती हैं। वह मल यह हैं —

१ राग २. ईर्ष्या ३. पर-अपकार-चिकीर्षा ४ असूया ५ द्वेष ६ अमर्ष।

राग—कहते हैं उस इच्छा को जो सुख मिलने पर पैदा होती है कि यह सुख मुझे सदा मिलता रहे।

ईर्ष्या—कहते हैं उस जलन को, जो मन के अन्दर दूसरों को फलते फूलते बढ़ते तथा उन्नति करते देखकर पैदा होती है।

परापकार-चिकीर्षा—दूसरों को हानि पहुंचाने की भावना।

असूया—दूसरों के गुणों को भी अवगुण बतलाना, सदाचारी को भी दुराचारी कहना।

द्वेष—दूसरों से शत्रुता करना।

अमर्ष—किसी के कठोर वचन सुनकर या किसी से अपमानित होकर और उस अपमान को न सहन कर बदला लेने की चेष्टा अमर्ष कहलाती है। इन छः मलों से चित्त पर बहुत बुरी रेखाएं पड़ जाती हैं।

योग-दर्शन समाधि-पाद में इन संस्कारों को दूर करने के लिए यह सुन्दर आदेश है —

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

मैत्री, करुणा, मुदिता (हर्ष) और उदासीनता इन धर्मों से सुखी दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

सुखी लोगों को देखकर प्रसन्न होना और उनसे मैत्री करना—इससे राग जाता रहता है और ईर्ष्या भी मिटती है।

दुःखी लोगों पर दया करना करुणा कहलाती है और इससे परोपकार-चिकीर्षा की भावना और इससे उत्पन्न होने वाले बुरे संस्कार दूर होते हैं। अतएव दुःखी लोगों के दुःख दूर करने की सदा चेष्टा करनी चाहिए। पुण्यात्मा-धर्मात्मा लोगों को देखकर सदा प्रसन्नता का प्रकाश करो, इससे "असूया" के बुरे संस्कार मिटेंगे। पाप-मार्ग में प्रवृत्त लोगों के सम्बन्ध में उदासीनता (उपेक्षा) की भावना से द्वेष तथा अमर्ष के मल दूर होते हैं, इसलिए चित्त को बुरे संस्कारों से साफ करने के लिए इस औषध का नित्य सेवन करना चाहिए। यदि मन में किसी के विरुद्ध विचार आ रहा है तो उसके लिए शुभ-कामना करना शुरू कर दीजिए। यदि अहङ्कार का संस्कार तङ्ग कर रहा है तो पूरी नम्रता से-शक्तिशाली भगवान् के चरणों में झुककर अपने इस अहङ्कार के इस संस्कार को मिटाए। यह अभ्यास निःसन्देह कठिन है, परन्तु कुसंस्कारों से कलुषित मन को धोना है, तब यह तप तपना ही पड़ेगा। कितने ही भक्तों को देखा है कि यह बुरे संस्कार उनकी सारी तपस्या पर मिट्टी डाल देते हैं, रुदन करते-करते वह घण्टों गुजार देते हैं, तब जाकर एक बुरे संस्कार की रेखा ज़रा सी दूर होती है। अर्थों को विचारकर गायत्री अथवा ओ३म् का जाप करने के साथ इसप्रकार से बुरे संस्कारों को धोने का यत्न अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरा साधन—सत्संग

मन के सुधार के लिए तीसरा साधन सत्सङ्ग है। भले पुरुषों की संगति में बैठने से मन के सङ्कल्प-विकल्प इस प्रकार रुक जाते हैं, जिसप्रकार अग्नि के समीप बैठने से शीत जाता रहता है या जैसे रामबन (काश्मीर) में चन्द्र-भागा नदी के तट पर बैठते ही सारी गर्मी दूर हो जाती है। आपने कई बार देखा होगा कि जब पूर्ण श्रद्धा से आप किसी सच्चे महात्मा के पास गए हैं तो उनके निकट बैठने ही से आपका मन एकाग्र हो गया है। उस समय कोई सङ्कल्प-विकल्प मन में नहीं उठता। इसीलिए तो कहा गया है—

> तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला इक अंग।
> तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

सत्सङ्ग में नित्य जाइए, इसमें आलस्य न करें। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सबको सत्सङ्ग से लाभ पहुँचता है। इससे प्रातः समय की हवा की भाँति सबको चुप-चाप एक अद्भुत प्रसाद मिलता है। काले कोयले को क्या आपने नहीं देखा? जब वह धक्-धक् जलती हुई अंगीठी में डाला जाता है और थोड़ी देर जलते हुए कोयलों की संगत में रहता है तो उसकी सारी कालिमा नष्ट हो जाती है और वह भी उसी गर्मी तथा और लाली के साथ चमकने लगता है। परन्तु यदि वह अंगीठी से नीचे गिर पड़े, जलते कोयलों की संगति से दूर हो जाय तो वह थोड़ी देर के पश्चात् फिर काला पड़ जाता है। संगति का मन पर बड़ा भारी प्रभाव होता है। नित्य सत्सङ्ग का सेवन मन की काया पलट कर देता है। यदि कुछ दिनों, कुछ महीनों अथवा कुछ वर्षों के सत्सङ्ग से आपको कोई भी लाभ प्रतीत न हो तो घबराइए नहीं। लाभ और प्रभाव निरन्तर होता रहता है। हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि हमारा मन कितना मैला है, वह एक बार

धोने से ही स्वच्छ हो जायगा, अथवा वर्षों ही उसे सत्सङ्ग की नदी में धोना पड़ेगा ? यह बात मन की अवस्था पर निर्भर है और फिर कोई पता नहीं कि कौन-सी घड़ी में कौन-सा वचन हमारे मन पर ऐसा प्रभाव डाल दे कि जिससे युग-परिवर्तन हो जाय।

ऋषि दयानन्द जिन दिनों जेहलम में थे, उन दिनों वहाँ महता अमीचद जी बहुत सुन्दर भजन गाया करते थे। परन्तु थे वे शराबी और उनका आचार भी कुछ बिगड़ चुका था। नित्य ही स्वामी जी के पास आते। एक दिन महता अमीचद ने प्रभु-भक्ति का बहुत ही मनोहर गान गाया। स्वामी जी ने सुना तो कहा—"अमीचद हो तो हीरे, परन्तु कीचड़ में गिरे पड़े हो।" बस तीर चल गया, निशाना ठीक बैठा था—उसी समय से महता अमीचंद का जीवन पलट गया। मदिरा छोड़ दी, व्यभिचार को महापाप समझने लगे और महता अमीचद सचमुच ईश्वर के सच्चे भक्त बन गए। महर्षि के एक वाक्य ने एक शराबी और व्यभिचारी को भक्त और शुद्धाचारी बना दिया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सत्सङ्ग से उकताइए नहीं। निरन्तर प्रयत्नशील रहा करो। प्रतीक्षा कीजिए कि कब आपके भाग्योदय की घड़ी आती है।

चौथा साधन—स्वाध्याय—

मन को पवित्र करने में स्वाध्याय भी बहुत महत्ता रखता है। शतपथ-ब्राह्मण में बतलाया गया है—

> प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहर-
> हरर्थान् साधयते सुख स्वपिति परम-चिकित्सक आत्मनो
> भवतीन्द्रियसयमश्चैकरसता प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकमक्ति।
> (११—५—७—१)

"स्वाध्याय (वेद का पढना) और प्रवचन (वेद-प्रचार) ये दोनों ऋषियों के प्यारे कर्म हैं, स्वाध्याय करने वाला पुरुष एकाग्र-मन

तीसरा साधन—सत्संग

मन के सुधार के लिए तीसरा साधन सत्संग है। भले पुरुषों की संगति में बैठने से मन के संकल्प-विकल्प इस प्रकार रुक जाते हैं, जिसप्रकार अग्नि के समीप बैठने से शीत जाता रहता है या जैसे रामबन (कश्मीर) में चन्द्र-भागा नदी के तट पर बैठते ही भारी गर्मी दूर हो जाती है। आपने कई बार देखा होगा कि जब पूर्ण श्रद्धा से आप किसी सच्चे महात्मा के पास गए हैं तो उनके निकट बैठने ही से आपका मन एकाग्र हो गया है। उस समय कोई संकल्प-विकल्प मन में नहीं उठता। इसीलिए तो कहा गया है—

तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला इक अंग।
तुले न ताही सकल मिलि जो सुख लव सत्संग॥

सत्संग में नित्य जाइए, इसमें आलस्य न करें। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सबको सत्संग से लाभ पहुंचता है। इससे प्रातः समय की हवा की भाँति सबको चुप-चाप एक अद्भुत प्रकाश मिलता है। काले कोयले को क्या आपने नहीं देखा ? जब वह धड़-धड़ जलती हुई अंगीठी में डाला जाता है और थोड़ी देर जलते हुए कोयलों की संगत में रहता है तो उसकी भी कालिमा नष्ट हो जाती है और वह भी उसी गर्मी तथा और लाली के साथ चमकने लगता है। परन्तु यदि वह अंगीठी से नीचे गिर पड़े अथवा कोयलों की संगति से दूर हो जाय तो वह थोड़ी देर के पश्चात् फिर काला पड़ जाता है। संगति का मन पर बड़ा भारी प्रभाव होता है। नित्य सत्संग का सेवन मन की काया पलट कर देता है। यदि कुछ दिनों, कुछ महीनों अथवा कुछ वर्षों के सत्संग से आपको कोई भी लाभ प्रतीत न हो तो, घबराइए नहीं। लाभ और प्रभाव निरन्तर होता रहता है। हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि हमारा मन कितना मैला है, यह एक बार

धोने से ही स्वच्छ हो जायगा, अथवा वर्षों ही उसे सत्सङ्ग की नदी में धोना पड़ेगा ? यह बात मन की अवस्था पर निर्भर है और फिर कोई पता नहीं कि कौन-सी घड़ी में कौन-सा वचन हमारे मन पर ऐसा प्रभाव डाल दे कि जिससे युग-परिवर्तन हो जाय।

ऋषि दयानन्द जिन दिनों जेहलम में थे, उन दिनों वहाँ महता अमीचंद जी बहुत सुन्दर भजन गाया करते थे। परन्तु थे वे शराबी और उनका आचार भी कुछ बिगड़ चुका था। नित्य ही स्वामी जी के पास आते। एक दिन महता अमीचंद ने प्रभु-भक्ति का बहुत ही मनोहर गान गाया। स्वामी जी ने सुना तो कहा— "अमीचंद हो तो हीरे, परन्तु कीचड़ में गिरे पड़े हो।" बस तीर चल गया, निशाना ठीक बैठा था—उसी समय से महता अमीचंद का जीवन पलट गया। मदिरा छोड़ दी, व्यभिचार को महापाप समझने लगे और महता अमीचंद सचमुच ईश्वर के सच्चे भक्त बन गए। महर्षि के एक वाक्य ने एक शराबी और व्यभिचारी को भक्त और शुद्धाचारी बना दिया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सत्सङ्ग से उकताइए नहीं। निरन्तर प्रयत्नशील रहा करो। प्रतीक्षा कीजिए कि कब आपके भाग्योदय की घड़ी आती है।

चौथा साधन—स्वाध्याय—

मन को पवित्र करने में स्वाध्याय भी बहुत महत्ता रखता है। शतपथ-ब्राह्मण में बतलाया गया है—

> प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहर-
> हरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परम-चिकित्सक आत्मनो
> भवतीन्द्रियसंयमश्चैकरामता प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः।
>
> (११—५—७—१)

"स्वाध्याय (वेद का पढ़ना) और प्रवचन (वेद-प्रचार) ये दोनों ऋषियों के प्यारे कर्म हैं, स्वाध्याय करने वाला पुरुष एकाग्र-मन

हो जाता है, पराधीन नहीं होता। दिन-प्रतिदिन उसके प्रयोजन पूरे होते जाते हैं। सुख से सोता है। अपने आपका परम-चिकित्सक बन जाता है, इन्द्रियों का संयम, सदा एक रस रहना, ज्ञान की वृद्धि, यश और लोगों को सुधारने और निपुण बनाने के काम (यह सब स्वाध्याय से प्राप्त होते हैं)।

शतपथ में एक और स्थान पर भी यह उपदेश है—

'मनुष्य इस सारी पृथ्वी को धन से भर कर देता हुआ जितने लोक [illegible] है, उससे तिगुने लोक को अथवा उससे भी अक्षय लोक को वह जीतता है जो ठीक-ठीक जानता हुआ प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, इसलिए स्वाध्याय नियम से करना चाहिए।'

तैत्तिरीय-उपनिषद् (शिक्षावल्ली अनुवाक ९) में मनुष्य के पंद्रह विभिन्न कर्तव्य गिनाए गए हैं। परन्तु प्रत्येक कर्तव्य के साथ स्वाध्याय और प्रवचन को मुख्य स्थान दिया गया है— नाक मौद्गल्य यह मानता है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही आवश्यक है क्योंकि वे ही तप हैं।

जब ऋषियों ने स्वाध्याय की इतनी महिमा गाई हो तो फिर सन्देह ही क्या रह जाता है। जब हम स्वाध्याय करते हैं तो निश्चय जानिए कि हम भगवान् और ऋषियों से सत्संग करते हैं और सीधे रूप में उनसे प्रसाद पाते हैं। स्वाध्यायशीलों का यह अनुभव है कि कितने ही संशय अपने आप उनके मिट गए, कितने ही रोगों की अनुभूत औषधियाँ उनको मिल गईं। प्रभु के कोष में जो जायगा, वह खाली हाथ नहीं लौट सकता उसको तो मन प्रसन्न करने के कितने ही साधन मिलेंगे। इसलिए नित्यप्रति वेद उपनिषद् इत्यादि पठनीय श्रेष्ठ-ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। आप अनुभव करेंगे कि इससे आपका मन निर्मल होता जा रहा है।

पाँचवाँ साधन—भगवदर्थ-कर्म—

मन की निर्मलता के लिए पाँचवाँ साधन "प्रभु के निमित्त काम करना" है। एक बार महात्मा हंसराज जी ने मुझे बताया कि जब उन्होंने जीवन भर बिना वेतन लिए दयानन्द कालेज में काम करने के सम्बन्ध में आर्य-समाज लाहौर के प्रधान को पत्र लिखा तो उन के मन में एक अद्भुत ज्योति चमत्कृत हुई और वह इस ज्योति को कितनी ही देर तक देखते रहे। तब उन्होंने अनुभव किया कि उनके मन की शक्ति कितनी बढ़ गई है और वह अपने अन्दर कितना अवर्णनीय आनन्द अनुभव करते हैं।

निस्सन्देह, इससे मन की निर्मलता बढ़ती है, आन्तरिक सङ्कोच नष्ट होता है, क्षुद्रता जाती रहती है, विशालता का विस्तार होता है। जब कोई मनुष्य परोपकार-निमित्त इस भावना से अपने आप को अर्पण करता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान् के निमित्त कर रहा हूँ, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं, तो मन मोद, प्रमोद और आनन्द की तरङ्गों से तरंगित हो उठता है। जब किसी दीन दुःखी और रोगी को, जिससे कोई भी सांसारिक सम्बन्ध न हो, आराम पहुँचाया जाता है, भूखे को खाने को दिया जाता है, प्यासे की प्यास बुझाई जाती है तो उस समय यह कार्य करने वाला अपने आपको कुछ ऊपर उठा हुआ अनुभव करता है। यदि इसके साथ यह भावना भी हो कि मैं क्या हूँ, यह सब काम करने वाला भगवान् है, यह उसीकी कृपा है और यह काम उसीके समर्पण है, तो मन की निर्मलता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इसी भावना को निष्काम-कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म उसे लिप्त नहीं करते, वह कमल-पत्र की भाँति संसार के जल में रहकर सारे कार्य करता हुआ भी कर्म-रूपी जल से अलिप्त रहता है। यदि कोई यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह जो करेगा, भगवान् के अर्पण

करता रहेगा, तो फिर उससे कोई भी बुरा काम नहीं हो सकता। साधारण से साधारण व्यक्ति को भी जब कोई वस्तु भेंट करनी होती है, तो अच्छी से अच्छी वस्तु प्राप्त की जाती है। जब माता पिता, गुरु, इष्टदेव की भेंट के लिए सर्वोत्तम पदार्थों की खोज की जाती है, तब तो अपने भगवान् की भेंट के लिए अति-उत्तम, अति-प्रिय, और अति-उपयोगी वस्तु ही चाहिए। इसलिए जब वह कोई कर्म करने लगेगा तो पहले यह सोचेगा क्या यह भगवान् की भेंट के योग्य है? यदि योग्य नहीं होगा तो उसे तत्काल छोड़ देगा—तब क्या वह झूठ बोल सकेगा? चोरी अथवा कोई और निन्दनीय कार्य कर सकेगा? कदापि नहीं। तब वह खोटे कर्मों से स्वयमेव छूट जायगा। भगवदर्पित कर्म करने का परिणाम इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि मनुष्य देवता बनने लगता है। इसी भाव को लेकर कृष्ण भगवान् ने वीर-श्रेष्ठ अर्जुन से कहा था—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गी ९-२७)

"हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण-रूप तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।"

हवन यज्ञ करने वाले भी तो यही करते हैं घृत अथवा सामग्री की प्रत्येक आहुति देकर "इदन्न मम" का शब्द कहते हैं। इसका प्रयोजन भी यही है कि यह मेरी नहीं, अपितु अग्निरूप, प्रकाशरूप, प्राणरूप भगवान् की है। आहुतियों के साथ-साथ समर्पण का भाव भी होता जाता है। इस प्रकार एक भक्त का जीवन और उस जीवन का एक-एक श्वास प्रभु-अर्पण होता रहता है। वह फिर अपने लिए नहीं जीता भगवान् के लिए जीता है, वह अपने

लिए नहीं खाता, प्रभु के लिए खाता है। जब उसका खाना, पीना सोना, व्यायाम करना, हवन करना, धनोपार्जन, सन्तान की पालना करना, सभा, समाज की सेवा करना, सब कुछ प्रभु अर्पण हो जाता है तो फिर चाहे उसे रूखी रोटी मिले या घी से चुपड़ी हुई, सुख मिले या दुःख, जीवन की आस रहे अथवा मृत्यु ताण्डव करे, किसी भी अवस्था में भक्त का मन उदास नहीं होता। प्रत्येक बात का वह स्वागत करता है। कितना ऊँचा उठ जाता है ऐसा भक्त ? देखने वाले आश्चर्य करते हैं और भक्त उनके आश्चर्य पर भी हँसता है। जब अपने आप को प्रभु के अर्पण कर दिया, तब वह जैसे चाहे हमारा प्रयोग करे, हमें कोई शिकायत रहती ही नहीं।

छठा साधन—उपासना—

मन को निर्मल करने का एक और उपाय भी है। इसकी महिमा भी किसी से कम नहीं, वह है "उपासना", अर्थात् पास बैठना। जिस परमात्मा को हम पाना चाहते हैं, जबतक उसके पास बैठने का अभ्यास नहीं डालेंगे, तबतक उसे पाएंगे कैसे ?

महाराज भगवान् दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा है—"उपासना दो प्रकार की है, एक सगुण, दूसरी निर्गुण। जगत् का रचने वाला, वीर्यवान् शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है तथा अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है।" जब हम यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, शुद्ध और सनातन है। सबको उसीने उत्पन्न किया है, यह पर्वत, यह नदियाँ, यह स्रोत, यह समुद्र, यह मीलों लम्बे रेगिस्तान, यह सुन्दर वन, यह पुष्प, यह मेघ, यह विद्युत् सब उसीकी महिमा है। यह सूर्य और चाँद, यह तारे

और भ्रमण उसी की आज्ञा से घूमते हैं और यह सारा संसार उसीकी ओर अंगुली उठाए संकेत कर रहा है और भगवान् इन सबके भीतर-बाहर ओत-प्रोत हो रहा है। कोई भी स्थान उससे खाली नहीं, तो हम सगुण भगवान् की उपासना करते हैं। उसकी महिमा को देखकर उसके पराक्रम को देखकर उसकी असीम विशालता को देखकर, उसके गुणों का वर्णन करते हुए हम उस की सगुण उपासना करते हैं। जब यह कहते और विचारते हैं कि वह स्वयं अजर, अमर, निराकार, और निर्विकार है, वह कभी बन्धन में नहीं आता न वह गर्भना में आता है, न उसका शोक है, न पाप, अरूप है, वह अनादि है अनन्त है, बिना गन्ध के है, बिना स्पर्श के है, बिना शब्द के है, तब हम उसकी निर्गुण उपासना करते हैं।

यह दोनों प्रकार की उपासनाएँ नित्य प्रति करनी चाहिएँ। दोनों प्रकार के मन्त्र वेद-भगवान् में हैं, इनका पाठ करना आवश्यक है। इनके पाठ के पश्चात् प्रभु के निकट बैठने की बारी आती है। पूर्वोक्त साधनानुसार आसन में स्थित हो प्राणायाम करके अब उस गुफा में प्रवेश कीजिए जहाँ प्रभु दिखाई देता है। इसकी विधि भगवान् दयानन्द ने यह लिखी है—

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्द-स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है।"

योगिराज ने उपनिषद् के अनुसार कितना सरल सीधा और

ठीक ठिकाना प्रभु का बतला दिया है। इसे पाकर भी यदि हम प्रभु के निकट न जायँ तो हमारा दुर्भाग्य! और जब एक बार हृदय की गुहा में निहित ज्योति से भरपूर उस स्थान में प्रभु को देख लिया तो फिर शेष क्या रह जाता है ?

हृदय कहाँ ?—

कुछ लोगों का मत है कि हृदय की गुहा सिर में है। मस्तिष्क से ऊपर और खोपडी से नीचे एक स्थान है, जिसे क्षीर-सागर भी कहते हैं, वही ब्रह्म-रन्ध्र भी है। इसलिए उस ब्रह्मचक्र में ध्यान लगाने की बात वह कहते हैं, परन्तु उपनिषद् हृदय की गुहा कण्ठ के नीचे बतलाते हैं। मुझे इन दोनों में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। बात स्पष्ट है—प्रभु को पाने के दो ही साधन हैं—एक विज्ञान और दूसरे मन की एकाग्रता। विज्ञान का स्थान है मस्तिष्क और मन का स्थान दोनों स्तनों के बीच हृदयाकाश। इन दोनों का मिलाप होना आवश्यक है। जब तक विज्ञान प्राप्त न हो जाय, तब तक प्रभु दर्शन नहीं हो सकते। इसीलिए सबसे पूर्व भक्त को आत्म-ज्ञान कर लेने के लिए आज्ञा-चक्र (भ्रू-मध्य) में जाना होता है। उपासना करने और मन को एकाग्र करने के लिए हठयोग-प्रदीपिका का एक श्लोक विशेष ध्यान देने योग्य है —

> भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थान मनस्तत्र विलीयते।
> ज्ञातव्य तत्पद तुर्यं तत्र कालो न विद्यते॥ (४-४८)

दोनों भृकुटियों के मध्य में शिव का—या सुखरूप आत्मा का स्थान है, यहीं मन लीन होता है अर्थात् उसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से चौथा पद "तुर्यपद" प्राप्त हो जाता है, और उस पद में काल (मृत्यु) नहीं है, अथवा सूर्य चन्द्र "इडा पिंगला" के निरोध से काल की गिनती हो ही नहीं सकती।

भ्रू-मध्य में मन को स्थिर करना आवश्यक है, क्योंकि मुख्य

केन्द्र इसी स्थान पर है। यहाँ जब भक्त प्रवेश करता है और अपने को विश्वासी सिद्ध करता है, अधिकारी सिद्ध करता है, तब उसे हृदय की गुफा में जाने का पास-पोर्ट मिल जाता है। यहाँ से पास-पोर्ट लेकर फिर वह हृदय की गुफा में घुसता है। यहीं दर्शन होते हैं। अथर्ववेद के केन सूक्त (१०-२-२६) में इसी विषय का एक बहुत ही सुन्दर मन्त्र है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

"वह एक-रस रहने वाला पवित्र ईश्वर इस मनुष्य के मूर्धा और हृदय को सी कर (बगल में लेके), वह मस्तिष्क से ऊपर होकर सिर के नीचे हृदय में आ जाता है।"

अर्थात् परमात्मा को पाने वाले भक्त के लिए आवश्यक है कि वह मस्तिष्क और हृदय को एक बना ले। यह न हो कि बुद्धि तो किसी दूसरी ओर जाने का आदेश करे और मन कहीं और चलने को चले। दोनों को सी कर एक देना होगा। इनको सिये बिना काम नहीं चलेगा। इस सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक बात श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने बतलाया है कि परमात्मा तर्क से परे है अर्थात् मस्तिष्क से ऊपर है और हृदय ही में जो प्रेम श्रद्धा, और भक्ति का स्थान है, उसके दर्शन होते हैं। यदि यह समझ लिया जाय कि जीवन-काल में प्रभु-दर्शन हृदयाकाश में होते हैं और मृत्यु के समय आत्मा को ब्रह्म-नाड़ से—जो भारी लम्बान सुराख वाली है। इसी अवस्था में ब्रह्म-रंध्र में से होकर शरीर छोड़ने का विधान है। उपनिषद् में लिखा है कि भक्तों और योगियों का आत्मा मृत्यु के समय इन्द्रयोनि में (मांस का एक लोथड़ा सा मुख में जो लटक रहा है) आ जाता है और फिर वहाँ से सीधा ऊपर ब्रह्म-रंध्र में से होकर शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसे भक्त मोक्ष के

अधिकारी होते हैं। यह बात सम्मुख रखने से मस्तिष्क और हृदय का कोई झगड़ा बाकी नहीं रहता। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह ब्रह्मचक्र तक अपनी गति कर ले। वहाँ तक पहुँच हो जाने के पश्चात् हृदय को गुहा में उतरने की आज्ञा मिल जाती है। यहीं दर्शन होते हैं और फिर मृत्यु-समय में इसी ब्रह्म-चक्र द्वारा भक्त की आत्मा शरीर त्याग देती है।

उपासना का अधिकारी बनने के लिए जहाँ प्रभु के गुण-गान करने की आवश्यकता है, वहाँ एकान्त में बैठकर भ्रू-मध्य में मन को बार-बार ले जाने की भी आवश्यकता है, ऐसा अभ्यास करने से मन प्रभु के निकट बैठने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

मन की निर्बलता

मन को वश मे करने के साधनों का वर्णन करने के साथ मन के विषय मे यह बात समझ लेना भी आवश्यक है कि मन के गुण क्या हैं ? यदि यह मालूम हो जाय कि इसकी दौड़ कहाँ तक है तो फिर इसे काबू करना सहल हो जाता है। मनुष्य शरीर की एक-एक नस-नाड़ी की खोज कर डालने वाले ऋषियों ने शरीर के उन सारे तत्त्वों और द्रव्यों को भी ढूँढ निकाला है, जिनसे यह शरीर बना है। इसीप्रकार ससार के बनने में जो वस्तु और पदार्थ काम में लाए गये हैं, उनके विषय मे भी ऋषियों ने पूरा पता दिया है। दर्शन-ग्रन्थों में इनका बहुत सुन्दर वर्णन आता है। वैशेषिक-दर्शन में बतलाया है कि निम्नोक्त नव-द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। शरीर-निर्माण में भी इन्हीं द्रव्यों का प्रयोग हुआ है। ऋषियों ने इन द्रव्यों के स्वरूप, लक्षण और गुण का लिङ्ग भी मालूम कर लिया और बतलाया कि पृथिवी का लिङ्ग गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द, और आत्मा का इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान की व्याख्या के पश्चात् 'मन'' की बात भी कही।

दर्शनों के विषय में यह सारी प्रस्तावना मैंने केवल मनकी बात कहने के लिए यहाँ उद्धृत की है, अन्यथा तर्क-वितर्क की इन बातों

में उलझने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु न्याय-दर्शन के कर्त्ता ने "मन" के विषय में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात कही है जो मन को वश में करने का प्रयत्न करने वालों के बड़े काम की चीज़ है। किसी भी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसका कोई कमज़ोर स्थान मालूम किया जाय और मन पर विजय प्राप्त करने वाले यह सुन कर प्रसन्न होंगे कि न्याय-दर्शन ने मन की निर्बलता भली प्रकार दर्शा दी है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ न्याय १।१।१६

"जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण और ज्ञान नहीं होता उसको मन कहते हैं।" जब यह पता लग गया कि मन को एक समय में केवल एक ही काम कर सकता है, एक काल में एक ही विषय का यह ग्रहण करने का सामर्थ्य रखता है, एक समय में एक ही वस्तु का इसे ज्ञान हो सकता है, दो का नहीं, तो फिर इसे एक भगवान् की ज्योति की ओर लगाने में कौन-सी कठिनाई रह जाती है? केवल एक बार यत्नपूर्वक प्रयास करने और दृढ़ करने की आवश्यकता है। जब एक बार इसे 'ओ३म्-रटन' में लगा दिया। बस, यह उसी में लगा रहेगा। यह किसी दूसरे पदार्थ की ओर जा ही न सकेगा, इसमें इतनी शक्ति नहीं कि एक समय में दो का ध्यान कर सके। मन की इस निर्बलता से भक्त लोग अवश्य लाभ उठाएं और इसे भगवान् की ओर लगाने का प्रयत्न करें अवश्य सफलता मिलेगी।

उलटे अपथ्य

ईश्वर नाम अमूल्य है, दामन बिना बिकाय।
तुलसी अचरज देखिये, कोइ गाहक ना आय॥

निस्सन्देह, यह बहुत आश्चर्य है कि प्रभु-भक्ति पर कुछ भी तो व्यय नहीं होता और भगवान् का नाम बिना मूल्य के मिलता है, परन्तु फिर भी कोई खरीदार नहीं आता। इस आश्चर्य को देखकर तुलसीदास जी स्वय ही इसका उत्तर देते हैं—

तुलसी पिछले पाप से, हरिचरचा न सोहाय।
जैसे ज्वर के वेग में, भूख बिदा हो जाय॥

जब मनुष्य ज्वर-ग्रस्त हो तो उसे अमृत से अमृत वस्तु भी अच्छी नहीं लगती। न दूध पीने को जी चाहता है, न कुछ और खाने को। हाँ किसी-किसी समय चटपटी चीजों के लिए जी ललचाता है, परन्तु भूख फिर भी नहीं होती। इसी प्रकार जिन लोगों को पिछले जन्मों के पाप का ज्वर चढ़ा हुआ है, उन्हें प्रभु-चर्चा भली नहीं लगती। वह परमात्मा के नाम से भागते हैं। कुछ लोग तो परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते । ऐसे लोग वास्तविक रूप में रोगी हैं। उनका मन तथा आत्मा पाप-ग्रस्त है। इसीलिए उनका मन प्रभु-भजन में तो नहीं लगता। हाँ, नाच, तमाशे, सिनेमा और इसी प्रकार की दूसरी चटपटी वस्तुओं पर ललचाता है और वह इन्हीं की ओर दौड़ते हैं। परन्तु वह नादान नहीं जानते कि ज्वर-ग्रस्त होते हुए

वह रोग को और भी बढ़ा रहे हैं। ऐसे लोग प्रभु को कभी पा भी सकेंगे ? भारी सन्देह होता है।

यजुर्वेद के १७-वें अध्याय का ३१-वाँ मन्त्र इस विषय को बड़ा स्पष्ट करता है, कौन लोग प्रभु को नहीं पा सकते ? निम्नोक्त मन्त्र में इसका बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया गया है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

"हे मनुष्यो ! जैसे ब्रह्म के न जानने वाले पुरुष धूम के आकार कुहर के समान अज्ञान-रूप अन्धकार से अच्छी प्रकार ढके हुए थोड़े सत्य असत्य वादानुवाद में स्थिर रहने वाले, प्राण-पोषक और योगाभ्यास को छोड़ शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के खण्डन-मण्डन में रमण करते हुए, विचरते हैं वैसे हुए तुम लोग उस परमात्मा को नहीं जानते हो। इन प्रजाओं को जो उत्पन्न करता और जो ब्रह्म तुम अज्ञानियों के सकाश से अर्थात् कार्य-कारण-रूप में जगत् और जीवों से भिन्न तथा सभी में स्थिर भी सूक्ष्म होता है, उस अति सूक्ष्म आत्मा के आत्मा अर्थात् परमात्मा को नहीं जानते हो।"

भगवान् को पा न सकने वाले चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन इस वेदमन्त्र में किया गया है—

अज्ञानी—

पहले तो वह, जो "नीहारेण प्रावृता" अज्ञान-रूपी अन्धकार में कोहरे के समान ढके हुए हैं। निपट अज्ञानी लोग, जिन्हें किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं जो पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं, जिन्हों ने ज्ञान की अग्नि में अपनी बुद्धि को नहीं तपाया और न ही अपने जीवन का उद्देश्य जाना। जन्म से लिया पल गए, बड़े हुए, खाया-पिया और मर गए—बस इतना ही जिनका जीवन है, और जो ज्ञान से शून्य हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्रभु-दर्शन नहीं हो सकते।

जल्पी—

दूसरे वह लोग भी प्रभु-दर्शन से वञ्चित रह जाएंगे, जो (जल्प्या) जल्प करने वाले हैं अर्थात् थोड़े सत्य, असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहने वाले, कुछ अल्प-ज्ञान प्राप्त कर लिया और शब्द-जाल में पड़कर लगे वाद-विवाद करने—ऐसे, जैसे चूहे को हल्दी की एक गाँठ मिल जाए तो वह अपने आपको पसारी समझने लगे। ऐसे लोग भी जिनको पूरा ज्ञान नहीं या जो वाद-विवाद ही में पड़े रहते हैं, जिनका स्वभाव केवल दूसरों की भाषा और वाणी के दोष निकालना हो जाता है, तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते। केवल गृद्ध की तरह लाशों पर मँडराया करते हैं। इनकी वृत्ति हंस-वृत्ति नहीं अपितु काक-वृत्ति होती है। इनके भाग्य में ज्योति से भरपूर स्वर्ग में पहुँच कर प्रभु-प्यारे को पाना नहीं लिखा। ऐसे लोग गाय के स्तन के साथ जोंक की तरह चिपट कर अमृत-दूध से वञ्चित रहते हैं और रक्त ही पीते हैं।

असुतृपः—

तीसरे वह लोग हैं, जिनको इस वेद मंत्र में 'असुतृप' कहा गया है। इन्हें प्राण-पोषक या 'पेटू' भी कहा जा सकता है। अर्थात् जो विरोचन[1]बुद्धि वाले हैं और जो यह समझे बैठे हैं कि यह शरीर ही सब कुछ है। चाहे बेजबानों के गले काटने पड़ें, परन्तु इस शरीर की जबान का चस्का अवश्य पूरा होना चाहिए।

(१) विरोचन-बुद्धि वह लोग हैं, जो शरीर ही को आत्मा समझ कर इसीकी पूजा में लगे रहते हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा छान्दोग्य-उपनिषद् में आती है—

प्रजापति ने कहा—"आत्मा जो कि पाप से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है, शोक से दूर है, भूख और प्यास से अलग है, सच्ची कामनाओं वाला और सच्चे सङ्कल्पों वाला है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसीकी

प्रकार के भोजन होने ही चाहिए। ऐसे पेटू लोगों का धर्म—ईमान केवल पेट रह जाता है। खाओ, पिओ और खाते ही खाते मर जाओ। एक बार रोम के लोग इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने लगे थे। वह खाते थे और जब पेट भर जाता था तो वमन कर देते।

क्या देखते हो ?" वे बोले—"जैसे हम अच्छे भूषण और वस्त्र धारण किए हुए और साफ सुथरे हैं, इसी प्रकार हे भगवन्! यह दोनों हमारे आत्मा (अर्थात् प्रतिबिम्ब) हैं।" प्रजापति ने कहा—"यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।" तब वह दोनों प्रसन्न-चित्त होकर चले गए।

उन दोनों को जाते देखकर प्रजापति ने कहा—"यह दोनों आत्मा को जाने और खोजे बिना जाते हैं। इन दोनों में से जो कोई देवता या असुर इस उपनिषद् (देह आत्मा है, इस सिद्धान्त) का अनुसरण करेंगे, वह नष्ट हो जाएंगे।"

अब विरोचन तो वैसा ही प्रसन्न-चित्त हुआ असुरों के पास पहुँचा और उनसे कहा—"यह शरीर ही आत्मा है और यही सेवा के योग्य है। जो यहाँ आत्मा (देह) को पूजता और उसकी सेवा करता है, वह दोनों लोकों का लाभ करता है।" लेकिन इन्द्र ने देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही भय (दिक्कत) अनुभव किया। जब यह (छाया जो पानी में देखी) अर्थात् शरीर अच्छे भूषणों को धारता है, तो अच्छे भूषणों वाला हो जाता है। और जब अच्छे वस्त्रों को पहनता है तो अच्छे वस्त्रों वाला हो जाता है। इसी प्रकार शरीर के अन्धा होने पर यह भी अन्धा हो जाता है, काना होने से काना होता है, लङ्गड़ा होने पर यह भी लङ्गड़ा हो जाता है, मुझे तो इस सिद्धान्त में कोई भलाई नहीं दीखती। यह विचार कर इन्द्र फिर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उसे देखकर कहा—"इन्द्र! तुम शान्त हृदय होकर विरोचन के साथ चले गए थे, किस प्रयोजन से तुम फिर आ गए हो ?" इन्द्र ने अपनी वही शङ्का उनके सामने रख दी और कहा—"इस शरीर के नाश होने पर तो इसकी

फिर खाते और हजम कर लेते। वह इन्हीं में शरीर का सुख समझे बैठे थे। ऐसे लोगों ने जीवन का ध्येय केवल खाना ही समझ रखा है वह जीते ही खाने के लिए हैं। फारसी के एक कवि ने खूब कहा है—

ख़ुरदन बराय ज़ीस्तने ज़िक्र करदन अस्त ॥
तो मोतकिद कि ज़ीस्तन अज़ बहरे ख़ुरदन अस्त ॥

अर्थात् "खाना जीवित रहने और भगवान् का भजन करने के लिए है परन्तु तेरा यह विश्वास है कि जीवन खाने ही के लिए बनाया गया है।" ऐसे ही लोग पशुरूप हैं। यह कदापि प्रभु-भजन में मन को नहीं लगा सकते। यह तो केवल शरीर की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की सन्तुष्टि में लगे रहते हैं, किसी के लिए अच्छे दृश्य का, किसी के लिये सिनेमा का प्रबन्ध कर, किसी ने स्वादु भोजन माँगे किसी ने और ही इच्छा प्रकट कर दी, पशुरूप लोग इन्हीं के नौकर बनकर

काम भी नष्ट हो जाती है, इसलिए इस सिद्धान्त से मुझे भलाई नहीं दीखती।' प्रजापति ने कहा— 'तूने ठीक समझा क्योंकि यह आत्मा नहीं है। अब मैं तुम्हें असली आत्मा का व्याख्यान करता हूँ।' इसके पश्चात् प्रजापति ने स्वप्न में महिमा अनुभव करने वाले को आत्मा बतलाया। इन्द्र ने इसपर भी आपत्ति की। तब प्रजापति ने सुषुप्ति अवस्था वाले को आत्मा बतलाया। इन्द्र ने इसमें भी दोष देख लिया। तब प्रजापति ने देखा कि अब ये उपयुक्त असली आत्मा को देखे बिना नहीं छोड़ेगा। इसलिए इन्द्र को उपदेश किया— 'यह शरीर मरने वाला है, जो मृत्यु से पकड़ा हुआ है, यह इस अमर और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान (रहने की जगह) है। जबतक यह शरीर के साथ एक हो रहा है, शरीर में आत्माभिमान रखता है। यह प्रिय और अप्रिय (हर्ष-शोक) से पकड़ा हुआ है, पर जब यह अशरीर होता है, शरीर से अपने आपको अलग समझता है, तब इसको प्रिय और अप्रिय नहीं छूते।" पूरी कथा के लिए छान्दोग्य-उपनिषद् के आठवें प्रपाठक का सातवाँ आठवाँ नवाँ दसवाँ, ग्यारहवाँ बारहवाँ खण्ड पढ़िए।

सारा जीवन बैल, कुत्ते और उल्लू की भाँति व्यतीत कर देते हैं। इस-का यह प्रयोजन नहीं कि शरीर की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। नहीं, ध्यान अवश्य देना चाहिए। आत्मा के निवास-स्थान की ओर ध्यान न देंगे तो किसकी ओर देंगे? परन्तु इसे निवास-स्थान ही समझना चाहिए, आत्मा नहीं। गीता में कृष्ण भगवान ने बहुत सुन्दरता से बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥ (गीता ६।१७)

"युक्त आहार और युक्त ही विहार, इसीप्रकार युक्त ही चेष्टा और कर्म करने वाले और युक्त ही सोने और जागने वाले योग को सिद्ध कर सकते हैं।"

युक्त का प्रयोजन है उचित, मुनासिब। जो लोग मर्यादा में रह कर खाते हैं, न इतना कम कि शरीर निर्बल ही होता चला जाय और न इतना अधिक कि खाने के सिवाय और कुछ सूझे ही नहीं। शरीर-रक्षा के लिए जितना खाना आवश्यक है, उतना ही खाना चाहिए, न कम, न अधिक। इसीप्रकार काम भी मर्यादा से करना चाहिए, न कम, न अधिक। सोने और जागने के विषय में भी "युक्त" के सिद्धान्त को सामने रखना चाहिए और चेष्टा भी अपनी शक्ति और अपनी अवस्था के अनुसार ही करनी चाहिए, तभी वह चेष्टाएं पूर्ण हो सकती हैं। इसप्रकार से जो लोग अपना जीवन बना लेते हैं, निश्चय ही वह योग ही करते हैं, और ऐसे ही लोग प्रभु के साथ योग करने के अधिकारी बनते हैं। जो अपना उद्देश्य केवल पेट-पूजा ही मानते हैं, उनके लिए तुलसीदास जी कहते हैं—

भजन करन को आलसी, भोजन को तय्यार।
तुलसी ऐसे जनन पर, बार-बार धिक्कार॥

तो ऐसे लोग भी प्रभु के प्रेम-पात्र नहीं बन सकते।

अस्यशास—

वेद-भाषा के अनुसार भगवान् को न पा सकने वाले वेद की भाषा में "अस्यशास" कहलाते हैं। योगिराज भगवान् दयानन्द ने इसका यह भाव लिखा है कि—"योगाभ्यास को छोड़ कर शब्द अर्थ सम्बन्ध के खण्डन-मण्डन में रमण करने वाले। जो लोग पढ़ तो बहुत गए हैं ज्ञान भी सारा प्राप्त कर लिया शास्त्रार्थ करने में भी बजोड़ हैं किन्तु प्रभु-चरणों में जिनकी लगन नहीं है केवल शब्दजाल में और व्याकरण के गोरख-धन्धे में फंसे हैं और पदों के बखेड़े हो से जिन्हें फुरसत नहीं मिलती—ऐसे लोग भी प्रभु का पान में असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों को यदि "ग्लाहवान्" का नाम दे दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। जिनका स्वभाव ग्लाहवान् हो गया है, भाषा कलुषी हो गई है, वाणी में मिठास नहीं रहा किसी से बात करते हैं, तो ऐसा प्रतीत हो।है कि अभी काट खायेंगे उनकी मनोवृत्ति प्रभु की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकती। इस वेद-मन्त्र के अनुसार जो लोग अज्ञानी हैं, जो लोग अल्पज्ञान रखने वाले और अभिमानी हैं, जो लोग अमृतप या पेनू अर्थात् विरोधन-बुद्धि वाले हैं और जो लोग ज्ञानी होते हुए भी ग्लाहवान् हैं, ऐसे लोग प्रभु-दर्शनों से वञ्चित हो रहते हैं।

उसके पात्र

प्रभु-दर्शन की इच्छा रखने वालों के अन्दर सबसे पहला गुण यह होना चाहिए कि वह पूर्ण-रूप से ईश्वर-विश्वासी हों, प्रभु पर अटल श्रद्धा और अटूट-विश्वास से मन भरपूर हो। वह है, और सर्वत्र व्यापक है, हमारे एक-एक हावभाव को देखता है और कोई भी बात उससे छिपी रह नही सकती। शक्तिशाली इतना है कि सारी सृष्टि पलक-भर में समाप्त करने और इसे फिर नए रूप में बना देना उसके लिए उतना ही सुगम है, जितना हमारा आँख बन्द करके खोल देना। करोडों सूर्य्य उसके सकेत पर घूम रहे हैं, समस्त धन, कुल, सम्पत्ति उसी की है, ऐसे शक्तिशाली भगवान् की मैंने शरण ली है। ईश्वर-विश्वास के ज्वलन्त उदाहरण देखने हों, तो भगवान् दयानन्द का जीवन पढो। सारा ससार विरोधी है और प्रभु-विश्वास के सहारे सहस्रों शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं और किसी भी समय शिथिल नहीं होते। काशी में महाराज स्वामी दयानन्द अकेले ही थे। काशी के लोगों ने निश्चय कर लिया था कि दयानन्द को हानि पहुँचाएगे। भारी भय था, इसीलिए बलदेवप्रसाद ने स्वामी जी के पास पहुँच कर कहा—"महाराज, आज बहुत भीड होगी, यह गुण्डों का नगर है। यदि फर्रुखाबाद होता तो दस-बीस मनुष्य आपकी ओर भी होते।" स्वामी जी यह बात सुनकर हँसे और बोले—"योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य अन्धकार-रूपी सेना पर अकेला

ही विजय प्राप्त है। प्राण जाय तो जाय परन्तु ईश्वर की आशा—जो सत्य है, वह न जाय। अरे देव! क्या चिन्ता है, एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक धर्म है?" यह है ईश्वर-विश्वास। इसीप्रकार महाराज का जीवन देखिए, संसार का कौन-सा कष्ट है, जो उसे सहन नहीं करना पड़ा और वह शेर की भाँति सबका मुकाबला करता रहा और हर विपत्ति में यही कहता रहा—

> दुख दर्द न जात कछु, तें [illegible] कापी जाय।
> जहाँ प्रीति साँची नहीं, [illegible] [illegible] जाय॥

भक्त को अपने हृदय में यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि मेरा मस्तिष्क केवल एक परमात्मा के सामने झुकेगा और किसी के सामने नहीं। मेरे मन-मन्दिर में उसी देव का सिंहासन होगा और किसी का नहीं। भयङ्कर से भयङ्कर आपत्ति और बड़े से बड़ा दुःख भी मुझे प्रभु से विमुख नहीं कर सकेगा। संसार की समस्त विपत्तियों को ललकार कर वह कह दे—

> ओ३म् उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः॥
> उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥
>
> (ऋ० १।४।५-६)

"चाहे हमारे निन्दक कहें कि तुम जो इन्द्र—परमात्मा की ही पूजा करते हो सो तुम यहाँ से और अन्य स्थान से भी निकल जाओ। ॥५॥ "और चाहे धर्मात्मा-जन हमें सौभाग्यवान् कहें, किन्तु हे अद्भुत कर्मों वाले परमात्मा इन्द्र! हम तेरी ही शरण में रहें" ॥६॥ संसार की कोई शक्ति भक्त के प्रभु-विश्वास को शिथिल नहीं कर सकेगी। इसप्रकार का ईश्वर-विश्वास भक्त के हृदय में होना चाहिए।

हर हाल में खुशहाल—

दूसरी बात भक्त के हृदय में यह होनी चाहिए कि परमात्मा ही

हमारी माँ है और निश्चय ही माँ जो कुछ करती है, हमारे कल्याण के लिए करती है। जिस भी अवस्था में वह हमें रखे, उसी में हम प्रसन्न रहें। इसका प्रयोजन यह नहीं कि भक्त आलसी और दरिद्री बन जाय। नहीं, अपितु भक्त को तो पूर्ण-रूपेण प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रत्येक कार्य को पूरे ध्यान से सम्पन्न करना चाहिए, पूरी मेहनत करनी चाहिए। यदि कोई रोग अथवा आपत्ति आ जाय तो उसके निवारण के लिए अपनी और दूसरों की बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए, अपनी ओर से कोई कसर उठा न रखनी चाहिए, किन्तु जब उसका परिणाम अच्छा या बुरा (हमारी दृष्टि में) निकल आए, तो प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए कि भगवान् तूने हमारे लिए जो उचित समझा, वह कर दिया, हमारा कल्याण इसीमें होगा। इसीको सन्तोष भी कहते हैं। अपनी ओर से पूरा प्रयत्न कार्य-सिद्धि के लिए करने के पश्चात् उसका फल जैसा भी मिले उसपर सन्तुष्ट हो जाना और यह समझना कि प्रभु की ऐसी ही इच्छा थी और इसीमें मेरा कल्याण है, यह भाव भक्त के मन में होना चाहिए।

माँ अपनी सन्तान को कभी भी दुःखी देखना नहीं चाहती। वह बच्चों को दूध पिलाती है, अच्छे-अच्छे भोजन खिलाती है, सुन्दर वस्त्र पहनाती है, चूमती है, प्यार करती है, परन्तु बच्चा रोगी हो जाय तो मिठाई उसके हाथ से छीन लेती है, और कड़वी औषधि पिलाती है, और जब कभी बच्चा शरारत करता है या कड़वी दवा नहीं पीता, तो चपत भी लगा देती है। जब भक्त ने परमात्मा को अपनी माता स्वीकार कर लिया तो फिर यदि हमारी दृष्टि में हम पर कोई आपत्ति आती है, निर्धनता, पुत्र-वियोग, पति-वियोग पत्नी-वियोग, पितृ-वियोग, या ऐसे ही और कष्ट आते हैं, तो भक्त को यही विश्वास होना चाहिए कि मेरा कल्याण इसमें था। वह

रोये क्यों? वह हाहाकार क्यों करे? उसके अन्दर से तो यह ध्वनि निकलेगी—

> जीता रखे तू हमको या मार डाले प्यारे।
> हम तो हैं भक्त प्रेमी कहता है तू पुकारे॥
> राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा[1] है।
> यां यूँ भी वाहवा है और यूँ भी वाहवा है॥

कुछ लोगों का विचार है कि प्रभु-कृपा केवल सांसारिक-धन सम्पत्ति वैभव और सुख ही में दिखाई देती है। जो सांसारिक दृष्टि में बहुत सुखी हों, उनके विषय में लोग कहते हैं कि इसपर प्रभु की बड़ी कृपा है, परन्तु भक्त को ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रभु कृपा की वर्षा दिन रात संसार के सब प्राणियों पर हो रही है, वह न रुकी है, न रुकेगी। हाँ यह ठीक है कि कभी तो वह सुन्दर से सुन्दर रूप में प्रगट होती है और कभी वीभत्स से वीभत्स रूप में। जब कोई सर्जन आपरेशन कर रहा होता है और शरीर को कितना ही चीर फाड़ कर रहा होता है, तो बाह्य-दृष्टि से देखने वाला साधारण तो यही कहेगा कितना निर्दयी है यह डाक्टर, किस बेदर्दी से आदमी को काट रहा है। रोगी के चीखने-चिल्लाने पर भी तो इसे दया नहीं आती परन्तु उस मूर्ख की बातें सुनकर सर्जन आपरेशन का काम छोड़ नहीं देता क्योंकि वह जानता है कि रोगी का कल्याण इसीमें है कि उसकी चीर-फाड़ की जाय।

मेरे एक मित्र की पतिव्रता पत्नी का देहान्त हो गया। वह अपनी पत्नी के स्वभाव उसकी सुशीलता उसकी कार्यकुशलता और उसके प्रेम पर मुग्ध थे। जब वह बीमार पड़ी तो उन्होंने इलाज में कोई कसर न उठा रखी। परन्तु रोग कम होने की बजाय बढ़ता ही गया और रोते हुए पति को छोड़कर वह स्वर्ग सिधार

[1] १—रजा।

गई। मेरे मित्र की अवस्था बहुत बिगड़ी। उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दिखाई देने लगा। ज्ञान की किसी बात से उन्हें शान्ति न मिलती थी, परन्तु अब, जब से प्रभु-भक्ति के मार्ग पर चलने लगे हैं, आत्म-दर्शन की कुछ लटक लगी है तो स्वयं ही कहते हैं—"भगवान् ने मेरा बड़ा कल्याण किया है, मेरी आयु समाप्त हो रही थी मुझे पत्नी-प्रेम भगवान की ओर जाने ही नहीं देता था। अच्छा हुआ, जो उससे छुटकारा मिल गया, यदि ऐसा न होता तो मैं जिस अमृत का नित्य-प्रति पान कर रहा हूँ, कैसे करता।"

इसीप्रकार हमें कुछ पता नहीं होता कि हमारा कल्याण किस में है, हमारी आँख, हमारी बुद्धि बहुत दूर तक देख नहीं सकती। हाँ 'उसकी' आँख बहुत दूर तक देखती है, वही जानता है कि हमारा कल्याण किसमें है। इसलिए भक्त जहां ईश्वर-विश्वासी हो, वहाँ उसके अन्दर यह पक्की धारणा भी होनी चाहिए कि प्रभु सदा हमारा कल्याण करता है। वह अद्भुत है और अपने अद्भुत उपायों से से ही वह काम करता है। कुछ बातों को हम समझ जाते हैं और कुछ को समझ नहीं सकते। अतएव जिस हाल में वह रखे, उसी में खुशहाल रहने का स्वभाव भक्त को बनाना चाहिए।

आत्म विश्वास—

इन दो बातों के बाद, तीसरी बात 'आत्म-विश्वास" स्वयमेव भक्त में उत्पन्न हो जाता है। अपने आप पर भरोसा करने की भीतर से प्रेरणा होने लगती है। वह अपने आपको फिर तुच्छ नहीं समझता, अपने आपको सारे संसार के परिपालक पिता का पुत्र अनुभव करके फिर भला कौन तुच्छ रहेगा? महान् के साथ मिल कर तो वह महान् हो गया, अब वह कभी अपने आपको असहाय, अनाथ और असमर्थ नहीं कहेगा। वह सदा आशावादी बना रहेगा, निराशावाद (Pessimism) कभी उसे छू भी न सकेगा, प्रत्येक

उसके मन में शूरवीरों की तरह वह भाग लेगा और विजयी होगा। अपरता भय, आलस्य और प्रमाद उसके निकट न आयेंगे। उसका हृदय उल्लास से भरपूर होगा और उत्साह की अग्नि उसे कभी ठण्डा नहीं होने देगी। वह दूसरों के कन्धों पर सवार होने के स्थान पर स्वयं अपना कार्य सम्पन्न करने वाला बन जायगा। आत्म-विश्वासी भयंकर से भयंकर क्षेत्र में भी कूदने को उद्यत रहता है, क्योंकि उसे अपनी भुजा पर, अपने मस्तिष्क पर और अपने आप पर पूरा भरोसा होता है। वह फिर दूसरे की कमाई पर ललचाई हुई दृष्टि से नहीं देखता अपितु दूसरों की कमाई पर निर्भर रहना पाप समझकर अपने हाथ से कमाता है, वह तो फिर इस सिद्धान्त को मानता है—

तुलसी कर पर कर करो कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो ता दिन मरन करो॥

प्रभु-मन्दिरों की सेवा—

उसे पाने वाले भक्तों के अन्दर एक और मुख्य-गुण यह होता है कि वह सारे भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखते हैं। सारे उसे परमात्मा के मन्दिर दिखाई देते हैं और वह कौन भक्त है, जो अपने प्रियतम के किसी भी मन्दिर को देख कर खुशी से नाच न उठे। प्रभु की सारी प्रजा फिर उसे अपना सम्बन्धी ही दिखाई देगी वह किसी से भी द्वेष नहीं कर सकेगा न ईर्ष्या न स्पर्धा, न शत्रुता कुछ भी बाकी न रहेगा। फिर तो वह यही गाता फिरेगा—

अब मैं दुश्मनी किससे करूँ दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बत है भरी दिल में न जगह कोई अदावत[1] की॥

यही नहीं अपितु यदि वह अपने भगवान् के किसी मन्दिर को

१—शत्रुता।

मैला—टूटा हुआ या गन्दा देखेगा तो वह उसे तत्काल ठीक करने में लग जाएगा। ऐसे भक्त मनुष्य-मात्र से प्रेम करने लगते हैं, उनके लिए कोई बेगाना नहीं रहता। विशेष-रूप से दु खियों के लिए उनका प्रेम-स्रोत बह निकलता है। भक्त से मेरा तात्पर्य वह 'भक्त' नही, जो मनुष्यों से दूर भाग कर वनों और पर्वतों की कन्दराओं में जा बैठें। प्रत्युत भक्त वह है, जो अपनी चिन्ता छोड़ प्रभु-मन्दिरों की चिन्ता करे। सच्चे भक्त का गुण ही यह है कि वह स्वय हानि सहकर भी दूसरों को लाभ पहुँचाए। जिस प्रभु-मन्दिर में ज्ञान का दीपक नहीं जलता, भक्त का कर्त्तव्य है कि उसमें दीपक जलाये, जो मन्दिर अन्न-रूपी चूना, सीमेंट के अभाव से जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, भक्त को चाहिए कि उसकी ओर ध्यान दे।

निस्सन्देह, भक्ति से तात्पर्य यही लिया जाता है कि स्वर्ग मिल जाय या मोक्ष मिल जाय। जो सकाम-भक्त होते हैं, वह सासारिक सुखों की खरीदारी करते हैं। परन्तु सच्चा भक्त इन तीनों बातों से ऊपर उठ जाता है। वह न इस दुनिया का राज्य चाहता है, न स्वर्ग की इच्छा उसे सताती है और न ही वह मुक्ति के लिए उतावला होता है। वह आनन्द में लिप्त होकर पुकार उठता है—

न त्वह कामये राज्य, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिना दु खताप्ताना, कामये दु ख-नाशनम्॥

"न मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग की और न ही मोक्ष की। हाँ, मैं यह चाहता हूँ कि भगवान् मुझे ससार के दु:खों से तपे हुए लोगों के कष्ट-क्लेश को दूर करने की शक्ति प्रदान कर दें।"

यही इच्छा उसे व्याकुल करती है और इसी धुन में वह दिन-रात लगा रहता है—

अपनी फिक्र न कुछ करें, प्रभु-प्रेम के दास।
सूई नगी खुद रहे, और सबका सिये लिबास॥

भक्त के हृदय में अपने और पराये का भाव ही नहीं रह। जब वह अपने और दूसरों के शरीरों को भगवान् के मन्दिर ही समझता है, तो फिर वह दूसरों के दुःख, कष्ट और क्लेश को अपना ही दुःख समझेगा और अपनी शक्ति के अनुसार उसे दूर करने का प्रयत्न करेगा। इन सब कार्यों से ऊपर वह कभी अभिमान न करेगा प्रत्युत दिन प्रतिदिन नम्र ही होता चला जायगा।

प्रभु-शरण के अधिकारी बनने वालों में यह गुण भी होता है कि वह सदा इस खोज में रहते हैं कि उन्हें कोई भगवान् का प्यारा मिले और वह प्रभु तक पहुँचने का मार्ग उन्हें बतला दे।

ऐसे भक्तों को भगवान् अपने दर्शनों से वञ्चित नहीं रखते, वह उन पर विशेष कृपा करते हैं। इन्हीं कुछ गुणों को धारण करने पर मनुष्य भगवान् के दर्शन कर सकता है।

मेरा शत्रु—मेरा मित्र !

मेरे मन ! तू मेरा मित्र भी है और शत्रु भी, तूने क्या-क्या खेल खिलाये हैं, कैसे-कैसे नाच नचाये हैं, कहाँ-कहाँ लिए फिरा है, कबसे मेरी नाक में नकेल डाले मुझे घुमा रहा है—कितने जन्म बीत गए, कितने युग चले गए, कितनी सृष्टियाँ बनीं और बिगड गईं, कबसे तू मुझे लिये फिर रहा है। बतला तो सही, आखिर यह कब तक ? अभी और कितने युगों, कितनी सृष्टियों, कितने प्रलयों और महा-प्रलयों तक तू मेरी गर्दन पर सवार रहेगा ? बहुत हो चुकी, अब बस कर, थक गया हूँ तेरी इस यात्रा से, तेरे इन खेलों और तमाशों से, कुछ दया कर, मेरे टूटे हुए शरीर को देख, मेरी टेढी पीठ की ओर निहार, मेरी थकी हुई आँखों में झाँककर देख, मेरे श्वेत केशों[1] को देख, कितनी ही वार ऐसी यातनाएं, कितने ही जन्मों में मर चुका हूँ, परन्तु तू पत्थर का बना है या लोहे का, तूने मेरी कोई टेर नही सुनी, तू बार-बार मुझे कही से कही घसीटता हुआ लिये जा रहा है, मेरा एक-एक अङ्ग टूटा जाता है। मेरे शरीर कई बार पिस गए—कभी तो विषय-वासनाओं के नोकीले काँटों में उलझा देता है, तब एक-एक नस-नाड़ी से रक्त प्रवाहित हो जाता है, मैं तडपता हूँ और तू मेरी इस तडप को देख-

१—दिल स्याह है बाल सब अपने हैं पीरी में सफेद।
घर के अन्दर है अन्धेरा और बाहर चाँदनी ॥

कर खिलखिला कर हँस देता है—ओ रे मिथ्याभी ! कभी तू क्रोध के जलते अङ्गारों की अङ्गीठी में मुझे झोंक देता है, मेरे शरीर का एक-एक रोम कम्पायमान हो जाता है, सब कुछ जलने लगता है, आँखें लाल अङ्गारा बन जाती हैं, सारा शरीर ही जलने लगता है और तू इस तमाशे को चुपचाप देखता रहता है, तूने मेरा सब कुछ लूट लिया है, मेरे देह-राज्य में तूने विप्लव मचा दिया न आँख वश में रही है, न हाथ न पाँव न दूसरी इन्द्रियाँ यह सारे का सारा देह-राज्य जिसका मैं राजा कहलाता हूँ, बागी हो चुका है। मेरा आज्ञा के बिना ही यह कभी क्रोध को मेरी राजधानी में ले आता है कभी किसी और रोग को। मैं चाहता कुछ और हूँ, यह करता कुछ और है। इसी प्रकार ओ मन ! तूने आनन्द के केन्द्र में भी हलचल मचा दी है, ओ षड्यन्त्र रचने वालों में शिरोमणि ! तूने मेरा सब कुछ लुटा दिया है, मैं अब न राजा हूँ—न धनी कोई भी सम्पत्ति मेरे पास नहीं रही सब कुछ तू लोभ कर ले गया—तो फिर अब तो मुझ कङ्गाल को छोड़ दे। मेरी इस दयनीय अवस्था में भी—जब कि मुझ में एक पग और आगे रखने की शक्ति नहीं रही चाबुक पर चाबुक लगाए जा रहा है। मेरी वेदना का मेरी पीड़ा का मेरी चिल्लाहट का और हाहाकार का तुझे कोई विचार नहीं आता ! बस अब बहुत हो चुकी अब सहन की शक्ति नहीं है, मैं अब तेरे चंगुल से मुक्त होता हूँ परन्तु—ओह ! यह क्या तू फिर मुझे लिये जा रहा है, कहाँ पटकेगा तू अब मुझे !

आकाश-वाणी—

यह नहीं सुनेगा कुछ भी यह तो तेरा सत्यानाश ही कर देगा। बचना है, तो एक ही उपाय है और वह यह कि अब तू इस पर सवार हो जा और इसे नकेल डाल कर दृढ़ता से इसे पकड़ रख और फिर देख यही मन जो तेरा शत्रु बना है, तेरा मित्र बनता है या

नहीं। इसकी कोई बात मत मान, यह खटाई खाने को मांगे तो इसे मीठा खिला—यह मीठा मांगे तो इसे लवण दे, यह सैर करने को कहे तो कोठरी में बन्द कर दे, यह कोठरी में बैठे रहने को कहे तो इसे लम्बी यात्रा पर ले जा।

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मन के मति चलिये नहीं, पलक-पलक मन और॥

परिवर्तन—

अब तो तू प्यारे मन! मेरा मित्र बन गया है न! कितना अच्छा है तू, कितना आज्ञाकारी, कितना भला है तू, मेरे कितने ही बिगड़े काम तूने सुधार दिए, मेरा हर काम कितनी ही तेज़ी से तू कर देता है और अब काम समाप्त करके किस उत्सुकता से तू फिर 'ओ३म्' के जाप में लग जाता है, याद है तुझे उस दिन की बात, जब मैंने तुझे कहा था, "आज भगवान् के पास ले चलो!" तब तूने कहा, "मेरी गति वहाँ नहीं। हां, भगवान् के द्वार पर ले चलूंगा। उसे खटखटा कर भीतर जाने की आज्ञा भी ले दूंगा परन्तु मैं अन्दर नहीं जा सकूंगा।" और तब मैंने कहा, "हां, ऐसा ही सही", और तू मुझे मेरे अच्छे मन! अपने ऊपर मुझे सवार करके ले गया था, कितनी मनोहर थी वह यात्रा, कैसे दृश्य आए थे, कितने सुन्दर बाजे बजते थे—ऐसा प्रतीत होता था कि कोई बहुत निपुण बंसी बजा रहा है। तब एक दम ऐसी सड़क की ओर तुम मुड़े थे कि जहां सन्नाटा था, सब कुछ ठहरा हुआ था, निस्तब्ध—एक दम निस्तब्ध, वायु भी नहीं चलती थी, प्राण-अपान में मिलकर धीरे-धीरे नहीं अपितु तेज़ी से परन्तु पूर्ण शान्ति के साथ जा रहा था, उस समय एक दम सहस्रों सूर्य और चांद भी एक साथ प्रकाशित हो उठे थे। इतना प्रकाश था और ऐसा प्रकाश था कि जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उसी क्षण एक अतीव सुन्दर-मनोहर रङ्ग-बिरङ्गा फाटक

सुख था। उसके सुनते ही न जाने तू कहाँ चला गया और तू ही क्यों ? अब तो मुझे अपना भी पता नहीं रहा। न सूर्य रहे थे न चांद, न ही कुछ और, फकत सुनते ही वह कुछ देखा जिसका वर्णन करने के लिए वाणी सारा बल लगाती है परन्तु एक शब्द तो क्या— एक अक्षर भी नहीं कह सकती। आंखों ने देखा तो है, पर वह वह आंख न थी वह कोई और ही थी। मेरे मित्र ! एक बार फिर वही सुना दो। तुमसे मैं अब और कोई काम का लेना नहीं इसी सुख के लिए तुझे निमित्त कर रहा हूँ, मेरा तू कोई और काम कर या न कर, परन्तु इस काम को करने पर मैं तुझे धन्यवाद करता हूँ मुझे तू बैकुण्ठ में न ले जा—मुझे तू मान-सरा में भी न ले जा, मुझे तू किसी और स्थान की भी सैर न करा मुझे तो वहीं ले जा, जहाँ प्रीतम के दर्शनों से मैं सुखधाम हो गया हूँ।

क्या करूँ बैकुण्ठ ले कल्पवृक्ष की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो जहाँ प्रीतम गल बाँह॥

ओ मेरे मन ! तू अब कितना अच्छा हो गया है। तेरी प्रत्येक शुभ कामना को पूर्ण करने में तू भरसक प्रयत्न करता है, तुझे अब वह पहली गालियाँ पसन्द नहीं आतीं न ही वह शरारतें अब तुझे भाती हैं क्यों अच्छा ! वह पहली बातें याद करके तुझे लज्जा तो अवश्य आती होगी। कहो, अब आनन्द आ या नहीं ? दूसरों की गर्दनें काटने में अधिक खुशी मिलती थी या अब, दूसरों के जीवन बचाने में अधिक प्रसन्नता होती है। अपने उस जीवन और इस जीवन को देख ! भगवान् को धन्यवाद कर कि तेरे अन्दर यह परिवर्तन पैदा हो गया—

पहले था मन काग सा करता जीवन-घात।
अब तो मन हंसा भया मोती चुग-चुग खात॥

भक्ति की पुकार

सा परानुरक्तिरीश्वरे[1]।

ईश्वर में परम-अनुराग का नाम ही भक्ति है।

प्रियतम! न बल है, न शक्ति। रोगी शरीर तेरी पूजा की सामग्री एकत्रित करने में भी असमर्थ है। तेरे इस मन्दिर की मरम्मत करने का भी अब साहस नहीं होता, न जप-बल, न तप-बल, न बाहु-बल, न धन-बल, किसके सहारे तेरे निकट पहुँचूँ। ऋषि यह कह गये हैं कि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" अर्थात बलहीन व्यक्ति आत्म-प्राप्ति नहीं कर सकता। तो फिर क्या मैं यहीं पड़ा रह जाऊँगा, इसी भवर में गोते खाने के लिए? न मन्त्र आते हैं न यंत्र, न यह जानता हूँ कि तेरी स्तुति कैसे करूँ, किन शब्दों में तुझे पुकारूँ, कोई शब्द ही मेरे पास नहीं है, फिर तेरे गुणों का वर्णन कैसे करूँ, तेरा आह्वान कैसे किया जाता है, इससे मैं अनभिज्ञ हूँ। कहते हैं प्राण-अपान का संयोग कर देने से तू मिल सकता है। मुझे तो यह विधि भी नहीं आती। ध्यान कैसे लगाया जाता है, इससे भी मैं परिचित नहीं, कोई मुद्रा भी मैं नहीं जानता, न हठ-योग, न ध्यान-योग, न कर्म-योग, न ज्ञान-योग। किसी पर भी मेरा अधिकार नहीं हो सका। किस विधि प्यारे! तुझे पा सकूंगा, कोई मार्ग दिखलाई नहीं देता। रोना भी तो नहीं आता और यदि रोऊँ भी

१—शाण्डिल्य ऋषि का भक्ति-दर्शन १-१-२।

तो क्या कहकर रोऊँ—हाँ, केवल एक—और निश्चित-रूप से एक बात जानता हूँ कि तू मेरी माता है, और ऐसी माता है, जो क्लेश हरने वाली है ।

नहिं संयम नहिं साधना नहिं तीरथ व्रत दान ।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान ॥

—१२—

मैंने यह भी तो सुना है मात ! कि जबतक तुम अपनी कृपा[1] का पात्र किसी को नहीं बनाती, तबतक न उसकी मेधा काम आती है, न वेद पढ़ा हुआ काम पहुँचाता है, तुम स्वयं जिस को चुन लो उसी को तुम्हारे दर्शन का अधिकार मिलता है । तो मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि कब होगी ? मैं कबतक तेरे द्वार पर खड़ा माँ-माँ पुकारता रहूँगा ! माँ तूने अपनी वाणी में कहा है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥ ऋ० ४-३३-११

पूरा प्रयत्न करके जबतक कोई थक नहीं जाता, तबतक ईश्वर की मित्रता प्राप्त नहीं होती और मैं अब थक गया हूँ मा, कितनी दूर से चला हूँ—सारे अंग चूर हो गए हैं मेरे अश्रु-भरे नेत्र, मेरा मलिन-मुख, मेरी काँपती हुई भुजाएँ, मातः ! क्या तेरे हृदय पर चोट नहीं करतीं । माँ तो अपने शिशु को दुःखी देखकर एक क्षण की भी देर नहीं करती सौ काम छोड़कर भी उसे गोद

(१) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

यह आत्मा न प्रवचन से प्राप्त हो सकता है न मेधा से न बहुत सुनने से, जिसको यह आप चुन लेता है वही इसे पा सकता है, उसके लिए यह आत्मा अपना स्वरूप खोलता है ।

कठोपनिषद् १२२—मुण्डक ३-२ ३ ।

में उठाकर प्यार करती है, पवित्र स्तनों से अमृत पिलाती है, माँ। मुझे भी ले लेना अपनी गोद में, उठा ले मुझे भी इस हीन-अवस्था से, पिला दे अमृत, पिला दे—अब बहुत प्रतीक्षा न करा।

हरि जननी। मैं बालक तेरा, काहे न अवगुन बगसहु मेरा।
सुत अपराध करे दिन केते, जननी के चित रहे न तेते॥

तेरे जैसी दयालु माता ने भी यदि बच्चे की टेर न सुनी तो और कौन सुनेगा।

तुम प्रभु दीन-दयाल जी, आये पड़ा हूँ द्वार।
अब जैसा कैसा हूँ प्रभु, कीजे यह न विचार॥

हाँ, मैं तुम्हारी कृपा-दृष्टि का याचक हूँ, अपने अपराध देखूँ तो कुछ बनता दिखलाई नहीं देता, तेरी अपार कृपा की ओर निहारूँ तो एक क्षण में बेड़ा पार होता दीखता है—

मुझ में तो अवगुण घने, तुम गुण भरे जहाज।
अब जैसे कैसे घने, राखो मोरी लाज॥

—×२×—

पापों की गठरी कितनी भारी हो गई है। अब तो उठाने की शक्ति नहीं रही। कितने ही भक्तों ने बतलाया है कि तू पापियों के पाप दूर कर देता है, तू पतितों को उठाता है, तू अधमों का उद्धार करता है। क्यूँ जी। यह सब बातें क्या ऐसे ही कही जाती हैं। यदि ऐसे ही नहीं तो मुझसे अधिक दयनीय और कौन होगा? पतित-पावन। मेरे जैसे पतित का उद्धार करके तुम बहुत बड़े पतितोद्धारक कहाओगे। यदि तेरे द्वार से केवल अच्छे मन वाले और योगियों को ही भिक्षा मिलती है, केवल ज्ञानी ही तृप्त होते हैं, तो फिर मैं क्या व्यर्थ चिल्ला रहा हूँ, कहो तो सही, सच्चे साहब। स्वस्थ-पुरुष या स्त्री को वैद्य के पास अथवा हस्पताल में जाने की क्या आवश्यकता है? धनी भीख माँगने धनी के दरबार

में क्यों जाय ? जिसके वस्त्र ठीक हैं, उसे दर्जी का दरवाजा देखने की क्या जरूरत है। फट गए हैं जिसके कपड़े काँटों से जगह-जगह पर, वही दर्जी को ढूँढ़ता फिरेगा। मन-रूपी कपड़े हो गए हैं मैले, वही धोबी के पास जायगा। ओ धोबी! मैं मैले ही कपड़े लेकर तेरे पास आया हूँ।

धोबिया राम दिलों दे धो दे!

मेरा मन रोगी है ओ परम-वैद्य! इसकी चिकित्सा कर दे मेरे आर्तनाद को सुन और मेरी पीड़ा को हर दे। यदि तूने भी गुण और अवगुण देखकर ही भिक्षा देनी है तो फिर तुम्हें 'समदर्शी' कहने वाले यह वचन बोलने से पहले सौ बार सोच लिया करेंगे। सूरदास तो आपके इसी गुण को देखकर इकतारा हाथ में लिये रो-रो कर पुकार उठा था—

अवगुण चित न धरो प्रभु मेरे।
अवगुण चित न धरो॥
समदर्शी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो।
इक नदिया इक नार कहावे मैलो ही नीर भरो॥
जब मिलकर इक वर्ण भये तब सुरसरि[1] नाम परो।
इक लोहा पूजा में राखो इक घर बधिक[2] परो।
पारस गुण अवगुण न देखे कंचन करत खरो।
प्रभु जी मेरे, अवगुण चित न धरो॥

यदि आपने जोश आप ही से काम लेना है तो फिर हमें कोई और द्वार बतलाओ जहाँ हमें भी भिक्षा मिल सके, परन्तु—

तेरे दर को छोड़ कर हम किसका जायें द्वार।
ना जग है और कोई जग में तैसा दर नहीं॥

नहीं छोड़ेंगे तेरी चौखट बस इसी द्वार पर भावों का अन्त

१—गंगा २—कसाई

होगा, कबतक तू नहीं सुनेगा! हमें भजन करना नहीं आता—न सही, हमें गुण-वर्णन की विधि नहीं आती, तो क्या हुआ? हम तो तुझे पुकारते ही चले जाँयगे, तेरा ही नाम, हाँ, तेरा ही नाम और कुछ नहीं हम जानते, केवल तेरा नाम—

ओम् का सिमरन नित्य करो, जिस विधि सिमरा जाय।
कभी तो दीन-दयाल जी, बोलेंगे मुसकाय॥

—×४×—

और यदि तेरे द्वार से हमें उस समय तक भिक्षा नहीं मिलनी जबतक हमारी त्रुटियाँ दूर नहीं हो जाएगी, तो फिर चलो यही काम पहले कर दो, त्रुटियाँ दूर करने वाला भी तो तू ही है। तूने ही तो वेद में कहा है कि कभी भीड़ आ बने तो मुझे पुकारो। अब तुझे पुकार रहे हैं। ले, तेरे ही पवित्र वाणी में अपनी टेर सुनाते हैं—

यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहस॥
(यजु० २०—१५)

जो दिन में—जो रात्रि में, अज्ञात अपराधों को हम लोग करें उस समग्र अपराध और दुष्ट व्यसन से हमें वायु के समान पृथक् कर दे।

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनाꣳसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वꣳहस॥ (यजु० २०-१६)

यदि जागृत अवस्था में और यदि सोते हुए मैं पाप में फसा हुआ पाप कर बैठा हूँ, उस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान मुझको मुक्त कर।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वय यदेकस्याधि
धर्मणि तस्यावयजनमसि॥ (यजु० २०-१७)

हम लोग जो गाँव में जो जंगल में, जो सभा में जो मन में, जो शूद्र में, स्वामी या वैश्य में जो एक के ऊपर धर्म में, तथा जो अन्य अपराध करते हैं अथवा करने वाले हैं, उन सबसे मुक्ति के साधन आप ही हैं।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे
तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु ३६—२)

जो मेरे नेत्र की या अन्तःकरण की न्यूनता या मन की व्याकुलता है, उसको बृहस्पति परमेश्वर मेरे लिए पूर्ण करे, जो सब संसार का रक्षक है, वह हमारे लिए कल्याणकारी होवे।

प्रभो, अब तो मेरी पुकार सुनोगे न—तेरे ही वेद के अन्दर, तूने ही अपने जिम्मे जो कर्तव्य लिया है, उसीकी याद तुझे दिला रहा हूँ। हम पाप से सर्वदा और सर्वथा पृथक् रहना चाहते हैं, परन्तु वह फिर भी हो जाते हैं। अतएव तेरे सम्बन्धी जितने पाप हुए हैं या होते हैं, उनसे हमें अलग कर दे और हमारे मन में जो गड्ढे पड़ गए हैं, भगवान् तू ही उन्हें भरने में समर्थ है। भर दे उन्हें, भर दे टूट त्रुटियाँ और एक बार ऐसी दृष्टि दे दे जो तुझे ही देखती रहे, हाँ तुझे ही।

भक्त की बात भगवान् से

आज तुझे अपना आर्त्तनाद सुनाता हूँ, इसे सुन मेरे भगवन्! यह तेरे भक्त के अन्तरात्मा की ध्वनि है—

सुखदायक हाथ !

क्व १ स्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो अस्ति भेषजो जलाष ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभि नु मा वृषभ चक्षमीथा ॥

(ऋग्० २–३३–७)

हे दुःख-नाशक! वह तेरा सुखदायक हाथ कहाँ है, जो दुःख-रोग हरने और आनन्द देने वाला है, जो देव-सम्बन्धी पाप को दूर करने वाला है। हे सुख की वर्षा करने वाले! तू अब तो मुझे (अभिचक्षमीथा) क्षमा कर।

—०—

मेरे दुःख की कहानी !

ओ३म् स मा तपन्त्यभित सपत्नीरिव पर्शव ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मति ॥

(ऋग्० १०–३३–२)

तपा जा रहा, सताया जा रहा हूँ, सपत्नियों के समान आत्मा को स्पर्श करने वाले बुरे भाव मुझे सब ओर से तपा रहे हैं, अज्ञान ने अत्यन्त दुःखी कर रखा है, नगा हो गया हूँ, हिंसा-भाव हर समय सता रहे हैं, पक्षी की भाँति मेरी मति चञ्चल हो रही है, ओह! मेरे दुःख की कहानी!

चूहे काट रहे हैं !

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥

(ऋ० १०—३३—३)

हे बहुत कर्म वाले ! तेरे स्तोता होते हुए भी, मुझको मानसिक पीड़ायें विविध प्रकार से खा रही हैं, जैसे चूहे पान लगे हुए सूत को खाते हैं। हे ऐश्वर्यवाले ! हे इन्द्र ! तू हमें एक बार अच्छी तरह सुखी कर दे और पिता की तरह हमारी रक्षा कर।

— —

हिमाद्रि पर्वत और सागर !

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १ —१२१—४

जिसकी महिमा को ये हिमाच्छादित पर्वत कह रहे हैं, और जिसकी महिमा को नदियों सहित यह समुद्र गा रहा है, ये सारी दिशायें जिसकी हैं और जो इसके बाहु के समान हैं, उस सुख-स्वरूप परमात्म-देव का मैं हवि द्वारा पूजन करूँ।

— ० —

कब वह दिन आएगा ?

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥

ऋ० ७—८६—२

कब वह समय आवेगा जब मैं अपने आत्मा से परमात्मा के साथ सम्वाद करूँगा, कब मैं प्रभु का अन्तरंग बनूँगा, कब वह प्रसन्न होकर मेरी भेंट को स्वीकार करेगा, कब मैं प्रसन्न हुए मन के साथ उस सुखदाता के दर्शन करूँगा।

वह पाप तो बता दे !

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥

ऋग्० ७-८६-३

हे वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! मैं दर्शन करने का अभिलाषी होकर तुमसे वह पाप पूछता हूँ जिसके कारण मैं यहाँ बधा हूँ। मैं जिज्ञासु दर्शनाभिलाषी होकर तेरे समीप आया हूँ, ज्ञानी पुरुषों से भी विविध प्रकार से पूछता रहा हूँ, पूज्य विज्ञगण सभी मुझे एक समान ही उपदेश करते रहे हैं कि निश्चय से यह वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभु ही तुम पर रुष्ट है।

—— o ——

तुझ तक कैसे पहुँचू ?

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥

ऋ० ७-८६-४

हे वरुण सर्व-श्रेष्ठ प्रभो ! वह क्या अपराध है ? जिसके कारण अपने बड़े से बड़े उत्तम स्तुतिकर्त्ता, स्नेही मित्र को भी दण्ड सा देना चाहता है। हे दुर्लभ ! मुझे वह उपाय बतला जिससे निष्पाप होकर भक्ति-भाव से विनीत होकर अति-शीघ्र चल कर तुझ तक पहुँच जाऊँ।

—— o ——

तुम्हारी रक्षा में भगवन् !

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥

ऋ० २-२३-५

उसको न किसी ओर से शोक प्राप्त होते हैं, न दुःख न उसको शत्रु दबाते हैं, न बन्धक। सारे बहकाने वालों को उस जन से तुम परे हटाते रहते हो, जिसके रक्षक बन कर हे प्रभो! तुम स्वयं रक्षा करते हो।

—— ० ——

हम आपके पुत्र हैं

ओ३म् स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥

ऋ १—१—९

प्रकाश देने वाले ज्ञान-स्वरूप प्रभो! आप तो हमारे पिता हैं, हम आपके पुत्र हैं, अपने पुत्र के लिए उत्तम ज्ञान दीजिए, जिससे सब प्रकार के सुख प्राप्त हो सकें।

—— ——

वह कहाँ है!

ओ३म् यस्ता चकार स कुह स्विदिन्द्रः कमा जनं चरति कासु विक्षु।
कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः स होता॥

ऋ ६—२१—४

वह सारे लोक लोकान्तर को बनाता है, वह इन्द्र कहाँ? और किन प्रजाओं किस मनुष्य के पास विचरता है? हे प्रभो! तेरा कौन यज्ञ कल्याणकारी है? तुझे अपनाने के लिए कौन सा मन्त्र पूजा साधन है? और वह कौन 'होता' है जो स्वीकार करने वाला है?

सबसे बड़ा दाता

ओ३म् शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥ ऋ ७-३२-१९

व्यर्थ ही मैं इधर उधर भटकता रहा कामना की कि कहीं से धन प्राप्त हो जाए, परन्तु मेरे सच्चे पिता! न आपसे बढ़कर कोई दाता है, न कोई दे सकता है और न आपसे बढ़कर किसीके पास धन है।

भरी दृष्टि

ओ३म् अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग् देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्याया स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥ ऋ० ४-१-६

तेरी तेज-भरी और कृपा-भरी कल्याणमयी दृष्टि परम उपकार करने वाली है, हम तेरी प्रजा इसी कृपा दृष्टि के इच्छुक हैं, कैसी है यह कृपा भरी दृष्टि, जैसे गौ का शुद्ध तपा हुआ घी, जैसा गाय के स्तनों से निकला हुआ ताजा दूध—जिसके लिए हमारी सदा रुचि बनी रहती है और जिसके तुल्य और कोई पदार्थ नहीं।

अति समीप

ओ३म् स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि ॥

ऋ० ४—१—५

अति समीप होकर हे तेजस्विन् प्रभो! तू हमारी रक्षा करता है, प्रभात-वेला की तरह तू पाप-नाश करने वाला है। विशेषरूप से प्रकट होकर हमें पाप-निवारक बल प्रदान कर, हमें अपनी छत्र-छाया में सत्सङ्ग और मैत्री-भाव से जोड़े रख, हमारे लिए सुखकारी ज्ञान को प्रकाशित कर।

तेरा भक्ति-रस

ओ३म् प्र ते नावं न समने वचस्युवं ब्रह्मणा यामि सवनेषु दाधृषिः।
कुविन्नो अस्य वचसो निबोधिषदिन्द्रमुत्सं न वसुनः सिचामहे ॥

ऋ० ७—१६—७

तेरे भक्ति-रस का पान करके हम तेरी नौका पर चढ़ बैठे हैं हमें अब वह शक्ति दे जिससे तुझे ही पुकारते रहें, और तुझे हमारी यह पुकार सुनते ही बने। बिजली के समान ऐश्वर्य के स्रोत प्रभो! हमें तेरे इस स्रोत से भक्ति रस पीते २ कभी न थकें।

सदा तेरे रहें

> ओ३म् स्याम ते त इन्द्र ये त ऊती अवस्यव ऊर्जं वर्धयन्तः ।
> शुष्मिन्तमं यं चाकनाम देवास्मे रयिं रासि वीरवन्तम् ॥
>
> ऋ १—११—११

हमारी रक्षा करो मनोहर प्रभो ! तेरी ही भक्ति में सदा तत्पर रहें, हम तेरे ही तो हैं और सदा तेरे रहेंगे ऐसा ऐश्वर्य दीजिए, जिस से हमारा प्रभाव बढ़े और अति बलवान् और हमारे सहायक हों।

—— ० ——

अपराध नष्ट कीजिए

> ओ३म् वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य ।
> मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः ॥
>
> ऋ २—२८—५

हे वरुण ! रस्सी खुल जाने से जैसे पशु को स्वतंत्रता मिलती है, इसी प्रकार मुझसे अपराध को नष्ट कीजिए जिससे प्रभो ! मैं आपके समीप होकर बलवान हो सकूं जैसे जल की नदी नष्ट नहीं होती बहती है और बहती ही रहती है, इसी तरह मेरी बुद्धि कभी नष्ट न हो। नाथ ! तेरा विरोध करने वाला कोई न हो।

—— ० ——

पापों की रस्सी काटिए

> ओ३म् अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय ।
> दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे ॥
>
> ऋ २—२८—६

वरुण भगवन् ! मुझ पर आपका अति अनुग्रह होगा यदि आप मुझे अभय बना दें जैसे बछड़ा रस्सी के खुलने पर आनन्द मनाता है, वैसे मेरे पापों की रस्सी काट दीजिए, तभी मैं सुखी हो सकूँगा आपके बिना तो मैं आँख तक भी नहीं झपका सकता।

म्हारे अन्दर लीन

ओ३म् उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व १ न्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृडीक सुमना अभि ख्यम् ॥

ऋ० ७-८६-२

प्रभो ! मैं सोचा करता हूँ कि मैं तुम्हारे अन्दर कब लीन हो ऊँगा ? तुम कब मेरी आराधना को स्वीकार करोगे ? कब मेरा ं इतना अच्छा हो जायगा कि मैं तुम्हारी कृपा का पात्र जाऊँगा ।

— ० —

ार करो

ओ३म् य आपिर्नित्यो वरुण प्रिय सन् त्वामागांसि कृणवत् सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्र स्तुवते वरूथम् ॥

ऋ० ७-८८-६

आप ही तो मेरे सच्चे बान्धव हैं न भगवन् ! यह ठीक है मैंने के प्रति कितने ही अपराध किए हैं, परन्तु आप अब मुझे ाप करके, अपनी शरण में स्वीकार करो, यही मेरी कामना है ।

ही सहारा मुझे

ओ३म् आ त्वा रम्भ न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥

ऋ० ८-४५-२०

वृद्ध पुरुष को लाठी का सहारा होता है, परन्तु हे सब बलों के मिन् ! मेरे सहारे तो तुम्हीं हो । अब मैं तुझे अपने समीप आमने ने देखना देखना चाहता हूँ ।

— ० —

अब बहुत प्रतीक्षा न कराओ

ओ३म् त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ॥

ऋ १०—५४—५

सब प्रकट और अप्रकट कोष तेरे ही तो हैं, मेरे भगवान्! फिर मेरी इच्छा की पूर्ति में देर क्यों? अब और प्रतीक्षा न कराओ। तू ही आज्ञा देने वाला है— हाँ तू ही देने वाला है, दाता अब देर क्यों?

—०—

हे वरद भगवान् वहाँ !

ओ३म् यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋ ९—११३—११

जहाँ आनन्द मोद बने रहते हैं, जहाँ मन की सारी कामनायें पूरी हो जाती हैं, वहाँ मुझे अमृत बना हे भगवान्! वहाँ मुझे ।

—०—

प्रतीक्षाकाल

अधीर हो उठने वाले भक्त एक बात याद रक्खें और वह यह कि भगवान् के दर्शनों में यदि देर हो रही है तो उसके लिए बहुत घबराने की आवश्यकता नहीं। कितने ही भक्त जब इस मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं तो कुछ काल के पश्चात् ऊब-से जाते हैं। वह यह कहना शुरू कर देते हैं—कुछ पल्ले नहीं पड़ा, कुछ भी तो प्राप्त नहीं हो रहा। पहले तो मन ही नहीं टिकता था, यही नाना प्रकार के नाच नचाता रहता था—अब इसका नाच कुछ कम हुआ है तो आगे कुछ भी तो दिखाई नहीं देता—ऐसा कहने वाले भक्त के लिए ही यह कहना है कि घबराइए नहीं, भगवान् अभी आपको इसी अवस्था में रखना उचित समझता है। इसी अवस्था में रहने से आपका कल्याण है और फिर यह अवस्था कोई ऐसी बुरी भी नहीं कि इसे त्याग दिया जाय। यह काल प्रतीक्षाकाल कहलाता है। निस्सन्देह, इसमें बहुत सन्तोष और धैर्य की आवश्यकता है, परन्तु एक सच्चा प्रेमी तो मिलाप की अपेक्षा इस प्रतीक्षा में अधिक आनन्द अनुभव करता है। उर्दू कवि ने क्या अच्छा कहा है—

वस्ल[1] में हिज्र[2] का गम, हिज्र में मिलने की खुशी।
कौन कहता है जुदाई से विसाल अच्छा है॥

क्यों जी! जब श्रीराम ने वन को चले जाना था, तब राम घर ही

१—प्रिय-मिलन। २—वियोग।

में थे और जब अन्तिम रात आ पहुँची थी तब अयोध्यावासी प्रसन्न थे या जब राम अयोध्या से दूर वन में थे और वनवास की घड़ियाँ दिन-प्रति-दिन समाप्त होती चली जा रही थीं तब आतुर थे। पहली अवस्था मिलाप की है, परन्तु लोग अधीर थे दूसरी अवस्था वियोग की है परन्तु लोग प्रसन्न हो रहे थे। यह एक सांसारिक प्रेम की उपमा है। इसी प्रकार प्रभु-मिलन की प्रतीक्षा के समय को भी आनन्ददायक समझना चाहिए। यही वह समय होता है, जब भक्त नित्य नए चाव से अपने मन-मन्दिर को साफ करता है, प्रभु-चाव बढ़ा कर मन-मन्दिर के द्वारों को धोता है, उसके मार्ग पर अश्रु-जल ही से छिड़काव करता है—"मेरे प्रियतम आज तो अवश्य आयेंगे—तो विशेष रूप से मन-मन्दिर की सजावट करनी होगी। दिन रात्रि भर, श्रद्धा-प्रेम और भक्ति के पुष्पों की माला लिए मार्ग देखना होगा। अभी आए कि अभी आए, अभी द्वार खुला कि ..." कितनी बार भक्त कोई आहट पाकर, प्रकाश की ज्योति कोई चिह्न पाकर बहुत प्रसन्न हो जाता है—'वह आ गए, वह खुल गया'' परन्तु फिर प्रतीक्षा आरम्भ हो जाती है—और इसी प्रकार कितनी रातें कितने दिन कितनी बरसातें कितनी सर्दियाँ बीत जाती हैं—भक्त बैठा है, दृष्टि टिकाये हुए—उसे अब इसी अवस्था में आनन्द आने लगता है—प्रात से सायं सायं से प्रात होता है और भक्त उसी प्रकार नित्य मन-मन्दिर को सजाता है, धोता है और "किसी" के आने की प्रतीक्षा करता है। भक्त इस प्रतीक्षा में घबराता नहीं। वह तो दृढ़ता से नित्य-प्रति मन-मन्दिर में बैठकर उसका द्वार खटखटाता ही चला जाता है और कहता है—

बैठे हैं तेरे दर[1] पे तो कुछ कर के उठेंगे।
या वस्ल[2] ही मिलेगा या मर के उठेंगे॥

१ द्वार। २—मिलाप।

परन्तु इस मार्ग में मरने की आवश्यकता नहीं पड़ती, मिलाप हो ही जाता है—आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। अतएव भक्त को यदि जल्दी मिलाप नहीं होता तो उसे घबराना नहीं चाहिए, इस प्रतीक्षा-काल में श्रद्धा की मात्रा बढ़ाते ही चले जाना चाहिए, संशय को निकट नहीं आने देना चाहिए। इसके साथ ही एक दूसरी बात भी सन्मुख रखनी चाहिए, और वह यह कि अधीर हो उठने अथवा ऊब जाने से तो काम नहीं बना करता। जब किसान बीज बोता है तो क्या वह इसका फल तत्काल पा लेता है? नहीं, उसे प्रतीक्षा करनी होती है, कितने ही दिन, कितने ही महीने वह प्रतीक्षा में व्यतीत करता है, कभी आकाश की ओर दृष्टि लगाए वर्षा की प्रार्थना करता है, कभी तूफ़ान से बचने की प्रार्थना करता है और फिर भी प्रतीक्षा करता है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण ऐपक टिटस फिलास्फर ने किया है जिसका वर्णन श्री लाला दीवानचन्द जी एम०ए०, भूत० प्रधान दयानन्द कालेज कमेटी लाहौर ने अपनी पुस्तक 'जीवन-रहस्य' में किया है। ऐपक टिटस कहता है—"कोई बड़ी वस्तु तत्काल पूर्णता को नहीं पहुँचती, एक मामूली अंगूर के गुच्छे या अजीर के पकने के लिए भी समय की आवश्यकता होती है। यदि तुम मुझे कहो कि इसी समय तुम्हें अजीर दे दूँ तो मैं कहूँगा कि इसके लिए समय चाहिए। पहले वृक्ष पर फूल खिलने दो, तब फल लगेंगे और फिर पकेंगे। जब एक अँजीर तत्काल पककर तैयार नहीं हो सकता तो मनुष्य के मन का फल तुम थोड़े से काल में कैसे प्राप्त कर सकते हो।" मन के बनाने में जब आप लग गए हैं तो इसका फल शीघ्र ही मत चाहो—लगे रहो—समय बीतने दो, अच्छे किसान की तरह पूरी निगहबानी करो और तब फल भी मिल ही जाएगा।

भक्ति के विघ्न

प्रभु-भक्ति की ओर अग्रसर होने वालों के मार्ग में विघ्न भी आकर उपस्थित हो जाया करते हैं। इन विघ्नों से घबराना नहीं चाहिए अपितु उन्हें दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। भक्ति के मार्ग के यात्रियों के लाभार्थ यहाँ कुछ विघ्नों तथा उनके दूर करने के उपायों का उल्लेख किया जाता है—

पहला विघ्न—

सबसे बड़ा विघ्न शरीर से सम्बन्ध रखता है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं तो मन भी स्वस्थ नहीं रह सकेगा। रोगी भला किस प्रकार से प्रभु-चिन्तन कर सकता है, वह तो पीड़ा तथा ज्वर ही की चिन्ता में अपनी घड़ियाँ व्यतीत कर देता है। मुझे उन हठ-योगियों के योग में सन्देह है जो सदा रोगी रहते हैं, और अपने शिष्यों के शरीर निर्बल करके उन्हें हतोत्साह करके निकम्मा बना देते हैं। यदि भक्ति अथवा योग-मार्ग पर चलना है तो सबसे पहली बात यह है कि शरीर को स्वस्थ बनाइए। स्वस्थ शरीर ही आपकी जीवन नय्या को पार ले जा सकेगा। इसके बिना न आसन दृढ हो सकता है, न ध्यान में बैठा जा सकता है और न आत्म-चिन्तन हो सकता है। इसीलिए बाल्य-काल ही से शरीर को पुष्ट बनाने का विधान है, और युवावस्था ही में भक्ति तथा योग की ओर चलने का आदेश किया जाता है। भर्तृहरि जी ने कितना अच्छा कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

जबतक यह शरीर-रूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियाँ निबल नहीं हुईं, जबतक आयु नाश नहीं गई है, बुद्धिमान् मनुष्य को तबतक आत्मा का कल्याण करने के लिए बड़ा भारी यत्न करना चाहिए। मकान जल जाने पर कुआँ खोदना व्यर्थ है।

शरीर स्वस्थ रखने का मुख्य उपाय यह है कि पौष्टिक परन्तु सात्त्विक भोजन समय पर किया जाय। न इतना अधिक खाओ कि हजम ही न हो और न इतना कम खाओ कि शरीर निर्बल होने लगे। अपनी परिस्थिति के अनुसार नियम बना लीजिए और फिर उन का पालन कीजिए—भोजन के अतिरिक्त नियमित व्यायाम और या आसन शरीर को स्वस्थ रखते हैं। दूध बिलोना, चक्की पीसना, चरखा चलाना तथा घर का काम-काज भी शरीर को नीरोग रखते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने का एक और साधन यह है कि कोई चिन्ता मन को न लगने दो। प्रसन्न चित्त रहा करो। चिन्ता रोगों का पालना है, इसी पालने में इनकी पालना होती है। किसी भी प्रकार की चिन्ता शरीर के अन्दर एक ऐसी उष्ण गुबार मचा देती है जिससे पेट की अन्तड़ियाँ अपना काम नहीं कर सकती तब कुछ भी हजम नहीं होता, और नाना रोग आकर घेरा डाल लेते हैं, सो चिन्ता से बच रहिए।

दूसरा चित्र—

जो लोग अपने आपको काबू में नहीं रख सकते जिनकी आँखें चलायमान रहती हैं और नेत्रों द्वारा जो विष-पान करते रहते हैं,

उनका ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं रह सकता, और भक्ति-मार्ग में ब्रह्मचर्य का नाश बहुत बड़ा विघ्न है। हठयोग-प्रदीपिका में कहा है—

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।

विन्दु (वीर्य्य) के पतन से मरण और विन्दु की रक्षा से जीवन होता है।

जो गृहस्थी नियमपूर्वक सन्तान-उत्पत्ति करते हैं, वह भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं, इसलिए गृहस्थ आश्रमी भी अपने ब्रह्मचर्य्य की रक्षा कर सकते हैं।

तीसरा विघ्न—

भक्ति तथा योग-मार्ग पर चलते हुए तीसरा विघ्न यह आता है कि गायत्री अथवा ॐ का जाप करते-करते या प्राणायाम करते हुए अथवा ध्यान का अभ्यास करते हुए कितनी वार ऐसी भावना होने लगती है कि हम अपना समय व्यर्थ खो रहे हैं, मिलता मिलाता तो कुछ है नहीं, जब ऐसा सन्देह होने लगे तो समझो कि आपको सन्मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए यह विघ्न आकर खड़ा हो गया है। सन्देह का पशु जब भी सामने दिखलाई दे, इसे तत्काल भगा दीजिए और लगे रहिए अपने अभ्यास में। संशय या सन्देह ऐसी अग्नि है जो श्रद्धा तथा विश्वास की हरी भरी खेती को जला देती है। यह आग मन में भड़कने न दीजिए और लगातार इसे बुझाकर भक्ति-माता की गोद में बैठकर प्रतीक्षा कीजिए। यह प्रतीक्षा एक न एक दिन फल लाएगी।

चौथा विघ्न—

चौथा विघ्न है भक्ति तथा अभ्यास के मार्ग पर चलते हुए 'तमाशे' दिखलाई देना। मैंने कितने ही भक्तों को देखा है, जिनकी वृत्ति एकाग्र होने लगी और उन्हें कुछ ज्योति, कुछ नाद, कुछ चन्द्र सूर्य, कुछ और अलौकिक दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे तो वह इन्हीं

पर सन्तोष करके बैठ गए। प्यारे भक्त! यह तो मार्ग के दोनों ओर खिले हुए फूल हैं। इनमें मन को न अटका आगे चल, आगे चल, इन रुकावटों में फंस गया तो भक्ति की असली मञ्जिल पर पहुँच नहीं सकेगा। यह विघ्न बड़ा चित्ताकर्षक है, परन्तु है तो विघ्न ही अतएव इसको भी छोड़ना चाहिए। इसका उपाय यही है कि यदि नाद सुनाई देता है तो देता रहे, आप आगे बढ़िए नाद से चिपटे न रहिए।

पाँचवाँ विघ्न—

भक्ति-मार्ग के इस यात्री पर और विघ्न के शिकार ऐसे गए हैं, और वह है अहङ्कार तथा अभिमान—अर्थात् मैं बड़ा भक्त बन गया हूँ ऐसा भाव भी विघ्न है। ऐसी भावना आ जाने से दूसरों के दोष देखने की बान पड़ जाती है। वह यह कहता फिरता है कि सब लोग पतित हो गए हैं, इन्हें धर्म-कर्म का कोई विचार ही नहीं रहा। भक्त के मन में ऐसे भावों का आ जाना बड़े अनर्थ का कारण बन जाता है। यह ऐसा विघ्न है जिससे वर्षों का अभ्यास मिट्टी में मिल जाता है। अभिमान तथा पर-दोष-दर्शन से बचना चाहिए। इसके साथ लड़ाई झगड़ों वैमनस्य और पक्षपात के झंझटों से भी बचे रहना आवश्यक है, यह भी विघ्न डालते हैं और भक्त को भटका देते हैं। यदि सर्वदा के लिए नहीं तो कुछ काल के लिए तो मन में भारी क्षोभ इन बातों से पैदा हो जाता है। ऐसे वातावरण में—जहाँ अशान्ति अधिक हो जाना भी विघ्न डालता है, अतएव नगरों के हा-हू में रहने वालों के लिए आवश्यक है कि वह वर्ष में कुछ समय ऐसे स्थान में जा रहें जो नगरों के झंझटों से दूर और वैमनस्य के शोर से परे हो निःशब्द एकान्त हो। यदि सम्भव हो सके तो 'अज्ञातवास' किया जाय इससे यह विघ्न शान्त होता है।

छठा विघ्न—

कितने ही युवक-युवतियों को देखा है जो यह विचार किए बैठे हैं

कि भक्ति केवल बूढ़ों के लिए है, जिन्हें कोई काम काज न हो, जो रिटायर्ड हो चुके हों और जिनका शरीर शिथिल हो गया हो, ऐसा विचार तो भयङ्कर विघ्न है। स्मरण रखिए वृद्धावस्था में कुछ न बन सकेगा। मुझे ऐसे वृद्ध पुरुषों तथा देवियों का पता है जो इच्छा रखते हुए भी भक्ति-मार्ग पर नहीं चल सकतीं। इसका कारण यह है कि उन्होंने युवा अवस्था में अपने आपको इधर नहीं झुकाया, युवा अवस्था ही में इस ओर प्रवृत्ति हो जाय तो बुढापे में भी कुछ हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए एक भक्त कहता है—

> आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्।
> प्रत्यायान्ति गता पुनर्न दिवसा कालो जगद्भक्षक॥
> लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितम्।
> तस्मान्मां शरणागतं शरणद! त्वं रक्ष रक्षाधुना॥

आयु प्रति-दिन देखते-देखते नष्ट हो रही है, जवानी बीती जा रही है, गए हुए दिन लौट कर नहीं आते, काल जगत् को खा रहा है, लक्ष्मी जल के तरङ्ग की तरह चञ्चल है, और जीवन तो बिजली की चमक के समान अस्थिर है, अतएव हे शरण देने वाले प्रभो! मुझ शरणागत की तुम अभी रक्षा करो—यही भावना रखनी चाहिए कि जो समय मिला है इसमें सबसे पूर्व आत्म-चिन्तन, प्रभु-चिन्तन तथा भगवान् के निकट बैठने का अभ्यास किया जाय। आयु अभी बहुत है, वृद्धावस्था तो आने दो, फिर भक्ति भी कर लेंगे, ऐसा भाव भक्ति-मार्ग का बडा विघ्न है।

> काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
> पल में परलै होयगी, फेरि करेगा कब॥

विघ्न तो और भी कितने ही हैं परन्तु मुख्य विघ्नों का वर्णन कर दिया गया है। भक्त को चाहिए कि इनसे बचता हुआ भक्ति-मार्ग पर निस्सङ्कोच बढता चला जाय।

स्त्री जाति और भक्ति

जिस प्रकार का कोमल, स्वच्छ हृदय भक्ति के लिए आवश्यक है, वैसा स्त्रियों को विशेष रूपसे भगवान् ने दिया है। इस लिए भक्ति में सबसे बड़ा अधिकार स्त्रियों का है और "कार्डिनल न्यूमैन" ने तो यहाँ तक लिख दिया है—"यदि ईश्वर से मिलना चाहते हो स्त्री बन जाओ।" इसका भाव यह नहीं कि पुरुष किसी प्रकार से वास्तविक रूप में स्त्री बन जाय, अपितु भाव यह है कि जैसा स्त्री का हृदय है, वैसा ही अपना भी हृदय बना ले। स्त्री के हृदय में भक्ति का फूल बहुत शीघ्र खिलता और बढ़ता है। स्त्री का हृदय दूसरों को दुःख और कष्ट में देखकर द्रवित हो उठता है, उसमें सेवा का अंश बहुत अधिक होता है, उसमें श्रद्धा और विश्वास का अंश पराकाष्ठा को पहुँचा होता है, उनका स्वर मधुर और वाणी मीठी होती है और यह सारे[1] गुण ऐसे हैं, जिनमें भक्ति का अंकुर खूब फलता फूलता है। केन-उपनिषद् में एक बड़ी सुन्दर कथा ब्रह्म को पाने के विषय में आती है। उससे भी यही ज्ञात होता है कि स्त्री ही ने आत्मा को ब्रह्म का पता दिया—कथा में कुछ और रहस्य भी खुल जाते हैं, इसलिए उसे सुन ही लेना चाहिए—

ब्रह्म ने अग्नि, वायु, आत्मा इत्यादि देवताओं का मान बढ़ाने के

१—जब इन गुणों का वर्णन मैं करता हूँ, तो मेरा प्रयोजन देवी से है, "चुडैल" से नहीं।

लिए उन्हें विजय प्राप्त करा दी। इस विजय को पाकर वह देवता अभिमान में आ गए कि संसार में सब शक्ति उन्हीं की है। यह जान-कर ब्रह्म प्रकट हुआ और यक्ष के रूप में सामने आया। देवताओं ने कहा यह कौन है ? तब अग्नि आगे बढ़ा। यक्ष ने पूछा तू कौन है, और तेरी शक्ति क्या है ? अग्नि ने कहा—मैं जातवेदा अग्नि हूँ और पृथिवी पर जो कुछ है, सबको जला सकता हूँ। यक्ष ने एक तिनका फेंक कर कहा, इसे जलाओ। अग्नि अपने पूरे बल के साथ आगे बढ़ा परन्तु तिनके को जला न सका। असफल हो अग्नि लौट गया और कहा मैं नहीं जान सका, यह यक्ष कौन है ? तब वायु को कहा गया तुम पहचानो, यह यक्ष कौन है ? तब वायु दौड़ा गया और यक्ष से कहने लगा कि मैं वायु हूँ और सब कुछ उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने उसके सामने तिनका रखकर कहा, इसे उड़ाओ। वायु ने अपनी पूरी शक्ति लगाई किन्तु वह उसे उड़ा न सका। वायु ने भी लौट कर कहा मैं इस यक्ष को जान नहीं सका। तब इन्द्र (आत्मा) को आज्ञा हुई कि तुम जाओ और पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? इन्द्र आगे बढ़ा तो क्या देखता है कि वह यक्ष लुप्त हो गया है। अभी वह आश्चर्य ही में खड़ा था कि आकाश में बहुत शोभा-युक्त, सुन्दरी भूषणों से अलंकृत उमा नाम की एक स्त्री उसके सामने आई। उससे इन्द्र ने पूछा यह यक्ष कौन है ? उमादेवी बोली कि वह ब्रह्म है और उसकी महिमा से तुम देवता महिमा वाले हो।

इस कथा में ब्रह्म की पहचान एक स्त्री ने कराई है। और बात है भी सत्य। शिव का पता उमा के सिवा और कौन दे सकता है। इस कथा में यह बतलाया है कि जड़ देवता अग्नि, वायु या मनुष्य के इन्द्रिय ब्रह्म को सर्वथा नहीं जान सकते उसे केवल इन्द्र अर्थात् आत्मा ही जान सकता है और वह भी उमादेवी अर्थात् बुद्धि की सहायता से। बुद्धि को स्त्री के रूप में दिखलाकर यहाँ स्त्री को बड़ा महत्त्व दे

दिया गया है, और स्त्रियाँ ऐसे महत्त्व की अधिकारिणी भी हैं। उनकी बुद्धि धर्म-कार्य्यों में, सूक्ष्म-विषयों को समझने में और भक्ति जैसे पवित्र-क्षेत्र में शीघ्र ही अति दूर निकल जाने में बहुत तीव्र होती है, परन्तु यह अत्यन्त शोक की बात है कि दम्भी-पुरुषों ने ऐसे पवित्र हृदयों का दुरुपयोग किया है और अपने गुरुडम और नीच वासनाओं के लिए ऐसे कोमल हृदयों में अन्ध-विश्वास की आग जलाकर उन्हें भस्म कर दिया है। इसलिए स्त्रियों को पूरी साव-धानी के साथ ऐसे लोगों से बचना चाहिए। स्त्रियों को स्त्रियों द्वारा ही उपदेश मिले तो अच्छा है और स्वामी दयानन्द जी ने कलियुग के ढोंगी गुरुओं की लीलाएं ही देखकर ऐसे गुरुडम के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उसे सर्वदा सामने रखना चाहिए, परन्तु इसका प्रयोजन यह नहीं कि स्त्रियाँ प्रभु-भक्ति से वञ्चित रखी जाँय।

मनु ने जो यह कहा है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

मनु० ५—१५५।

स्त्रियों के लिए पृथक् यज्ञ व्रत-उपवास नहीं हैं, केवल एक पति की सेवा करने से वह परम-पद को प्राप्त हो देवताओं द्वारा पूजित होती हैं।

मनु-भगवान् की यह आज्ञा, आजकाल के धूर्त्त गुरुओं को देखें तो सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। बात है भी सच, जब स्त्रियों ने पति को छोड़कर किसी दूसरे की ही सेवा करनी है और उसी धन्धे और जञ्जाल में पड़े रहना है तो फिर उससे अच्छा है कि अपने पति ही की सेवा की जाय। पति-सेवा की महिमा बहुत बड़ी है। गान्धारी ने तो यहाँ तक कह दिया था—

योगेन शक्तिं प्रभवेच्चराणाम्। पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम्॥

'पुरुषों को योग द्वारा शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओं (देवियों) को अपने पतिव्रत धर्म से।"

वाल्मीकीय-रामायण (७-१८) में यह कहा है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

नारी के लिए पति ही देवता, पति ही बन्धु पति ही गुरु है। नित्य प्राणों से भी प्रिय-पति का प्रिय कार्य करना और उसी में प्रसन्न रहना। स्त्री का यह स्वाभाविक धर्म है।

यह सब सत्य है और स्त्रियों को पतिव्रत-धर्म में आरूढ़ रखने के लिए यह उपदेश आवश्यक है, परन्तु पति-सेवा के साथ यह भी आवश्यक है कि आत्म-दर्शन के लिए भी कुछ प्रयत्न किया जाय। इसीलिए स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में जहाँ पुरुषों के लिए योगाभ्यास लिखा है वहाँ स्त्रियों के लिए भी यह आज्ञा दी है—'स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे"—और फिर जब आत्म-दर्शन की सामग्री स्त्रियों के पास मौजूद ही है तो ऐसी अवस्था में उन्हें प्रभु-दर्शन से वंचित रखना उचित नहीं है। यह सत्य है कि स्त्रियों को अपने पृथक्-यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं पुरुष कोई भी यज्ञ करे साथ स्त्री का होना अनिवार्य है। वह यज्ञ पूर्ण हो नहीं हो सकता, जिसमें पति के साथ पत्नी विराजमान न हो किन्तु भक्ति यज्ञ से पृथक् एक ऐसी भावना है, जो पुरुष को क्या, और स्त्री को क्या, एक अलौकिक और स्वर्गीय आनन्द को अनुभव करने का अधिकारी बनाती है, और इसको प्राप्त करने का अधिकार सबको है। पुरुष और स्त्री को बालक और बालिका को वृद्ध और वृद्धा को युवक और युवती को, ब्राह्मण और चाण्डाल को धनी और निर्धन को, सबको यह अधिकार दिया गया है कि जब तुम्हें भगवान का मन्दिर मिला है तो तुम

अपने सासारिक कर्त्तव्य करते हुए इस मन्दिर में आने के वास्तविक उद्देश्य को भी पूर्ण करो. और फिर स्त्री और पुरुष के अन्दर कौन है ? वह न स्त्री है, न पुरुष—वह केवल आत्मा है। देखिए तो सही वेद-भगवान् इस विषय मे कितनी सुन्दर बात कहता है—

त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी।
त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुख ॥
अथर्व० १०-८-२७ ॥

वेद जीवात्मा का वर्णन करता हुआ कहता है—"तू स्त्री और पुरुष भी है, तू कुमार और कुमारी भी है, तुम्ही वृद्ध होकर लाठी से चलते हो, तुम जन्मते हुए अलग-अलग शक्लों वाले हो जाते हो।"

यह केवल बाहर का ढाँचा स्त्री-पुरुष दिखलाई देता है अन्यथा इस आत्मा का तो कोई लिंग नहीं।

स्त्रियों के लिए एक कठिनाई अवश्य है और वह यह कि उन्हें बच्चों के पालन-पोषण तथा गृह-कार्यों में बहुत समय देना पड़ता है, और उन्हें आत्म-दर्शन की साधना के लिए बहुत कम समय मिलता है, परन्तु जहाँ उनके लिए यह कठिनाई है, वहाँ उनको भगवान् ने दूसरे ऐसे गुण दे रखे हैं जो इस त्रुटि और कठिनाई को दूर कर देते हैं। पुरुष को गायत्री के जाप या ओ३म् के जाप से जो लाभ एक वर्ष में हो सकता है, वही लाभ देवियों को ६-७ मास में प्राप्त हो जाता है। इसलिए बच्चों के पालन-पोषण तथा गृह-कार्यों से न घबराना चाहिए, न घृणा करनी चाहिए, और न दिल तोड़ना चाहिए, अपितु इन कार्यों को तप का एक साधन समझ कर इन्हें करते हुए प्रभु-स्मरण, आत्म-दर्शन और भक्ति के लिए समय निकाल लेना चाहिए। प्रभु-भक्ति का क्षेत्र तय्यार करने के निमित्त वही विधि है, पहले ओ३म् और गायत्री-मन्त्र (अर्थ भली भाँति समझ) के जाप से आरम्भ करना चाहिए। उससे आगे वही विधि

है जो पहले लिखी जा चुकी है। हाँ स्त्रियों को आसन का ध्यान रखना चाहिए। उनके लिए दो ही आसन उपयोगी हैं—पद्मासन अथवा सुख-आसन। इन दोनों में से किसी एक का इतना अभ्यास कर लें कि एक ही आसन में साढ़े तीन घण्टे तो बैठ सकें देर तक एक ही आसन में बैठने से टाँगें सोने लगेंगी इन्हें सोने दीजिए। यह सुन हो जायेंगी इसकी भी चिन्ता न कीजिए। आगे बढ़कर शरीर भी सुन्न हो जायगा, इसकी भी चिन्ता नहीं करनी और साधन को जारी ही रखना चाहिए।

पति-सेवा और दूसरे गृह-कार्य तो अवश्यमेव करने ही हैं इनसे भागना नहीं। हाँ, इनके साथ भगवान् का स्मरण भी जारी रखना चाहिए। जिस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा था कि "सब समय में निरन्तर भगवान् का स्मरण भी कर और युद्ध भी कर"। इसी प्रकार स्त्रियों को भी करना चाहिए। एक बहुत सुन्दर उपमा एक कवि ने संसारी लोगों के लिए दी है कि किस प्रकार से इस संसार में रहना चाहिए और वह यह है—

ज्यूँ तिरिया[1] पीहर[2] बसे सुरति[3] रहे पिउ[4] माहिं।
ऐसे जन जग में रहे हरि को बिसरे नाहिं॥

संसार के सारे काम करो पति सेवा भी करो, परन्तु इस कारण को न भूलो कि उस परम-पति के दर्शन के लिए यह शरीर मिला है। एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है और वह यह कि यदि स्त्रियों के लिए पति के अतिरिक्त और किसी को गुरु बनाने की आज्ञा नहीं तो फिर स्त्रियाँ इस मार्ग का ज्ञान कहाँ से प्राप्त करें इसका उत्तर यह है कि जो देवियाँ भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहें, वह पहले अपने पतियों को इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करें उनके पति इस मार्ग पर चलना सीखें, तब देवियाँ पति द्वारा ही इस

१—स्त्री। २—मायके (बाप का घर)। ३—ध्यान। ४—पति।

मार्ग पर चलने लग जाँयगी। यदि पति नहीं है तब पिता, भ्राता, पुत्र या किसी और सगे सम्बन्धी को वह इस मार्ग पर आने की प्रेरणा करें, इससे जहाँ वह अपना कल्याण करेंगी, वहाँ अपने प्यारे सम्बन्धियों के कल्याण का भी साधन बन जाँयगी, और यदि कोई भी सम्बन्धी उनके इस भक्ति मार्ग में सहायक नहीं बनता, तब भक्तिमार्ग की इच्छुक दूसरी देवियों के साथ मिल कर वह इस मार्ग पर चलें।

—०—

भक्तों के लिए उपयोगी बातें

उषा-काल से पहले ३ अथवा ४ बजे बिस्तर से उठ जाना चाहिए।

रात को सोते समय "तन्मे मन शिव सकल्पमस्तु" के सारे मन्त्र इस प्रकार से उच्चारण करने चाहिए कि अपने कानों को भी सुनाई दें।

ओ३म् का जाप चलते फिरते भी करते रहना चाहिए।

पेट को न बहुत भरना चाहिए, न बहुत खाली रखना चाहिए।

बहुत थका देने वाला व्यायाम नहीं करना चाहिए, हल्का व्यायाम नित्य प्रति करना चाहिए—जिस दिन किसी विशेष कारण से व्यायाम न हो सके, उस दिन मानसिक व्यायाम ही कर लिया करें।

अभ्यास, ध्यान, भजन तथा जाप नियत समय पर पूरे नियम और सावधानी के साथ करने चाहिए।

अपने घर में कोई एक स्थान नियत कर लो और प्रयत्न करो कि भजन के लिए नित्य वहीं बैठा करो।

संसार अनित्य है, मनुष्य अन्न की तरह पकता है और अन्न की तरह उत्पन्न होता है, मरना मनुष्य के लिए नियत है, यह अनहोनी बात नहीं। (कठ)

परमात्मा की प्राप्ति का उपाय यह है कि वाणी आदि सारी

इन्द्रियों को मन में रोके, मन को बुद्धि में रोके बुद्धि या ज्ञान को महान आत्मा (महत्-तत्त्व) में रोके और उस महान् को शान्त आत्मा में रोके। (कठ)

१० मूर्ख बाहर और सांसारिक कामनाओं के पीछे जाते हैं और वह मृत्यु की फाँसों में पड़ते हैं, और धीर पुरुष अमृतत्व को जान कर यहाँ अस्थिर वस्तुओं की कामना नहीं करते। (कठ)

११ जो अपेक्षा सारे संसार की हर प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करता है, उसको जो पुरुष अपने आत्मा में स्थिर देखता है, उसको सदा ही शान्ति होती है।

१२. ब्रह्म-लोक उनके लिए है जिनके तप और ब्रह्मचर्य है और जिनमें सच्चाई स्थिर है—जिनमें कोई कुटिलता नहीं और कोई छल नहीं। (प्रश्न)

१३ ओम् धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहलाता है। इसको पूरा सावधान पुरुष बींध सकता है। (मुण्डक)

१४ जो सबको जानता है और सबको समझता है, जिसकी यह प्रत्यक्ष इस भूमि पर महिमा है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर (हृदय के आकाश) में रहता है। (मुण्डक)

१५. सत्य तप वास्तविक ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है। (मुण्डक)

१६ जिस प्रकार की कामनाओं का विचार करता हुआ मनुष्य मरता है, उन्हीं कामनाओं के अनुसार वह जन्म लेता है। (मुण्डक)

१७. अन्न की कभी निन्दा न करे, यह व्रत है, अन्न को परे न हटाए, उसका अनादर न करे यह व्रत है, अन्न का बहुत सम्पादन करे यह व्रत है, अतिथि को अपने घर से कभी वापिस न करे यह व्रत है। (तैत्तिरीय)

पुरुप को चाहिए कि "ओम्" इस अक्षर की उपासना करे। इस ओम् ही से सारे वेद प्रवृत्त होते हैं। (छान्दोग्य)
यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, धान से छोटा है, जौ से छोटा है, सरसों से छोटा है, सिमाक (सवॉक) से छोटा है, सवॉक के चावल से भी छोटा है।
यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, पृथिवी से वड़ा है, अन्तरिक्ष से वडा है, द्यौ से वडा है, इन सव लोकों से वडा है। सारे कर्म, सारी कामनाए, सारे सुगन्ध और सारे रस उसके हैं। वह इस सवको घेरे हुए है, वह कभी वोलता नहीं, वह वेपरवाह है। यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर, यह ब्रह्म है, इसको मैं यहॉ से मर कर प्राप्त करूँ, ऐसा जिसका पूरा विश्वास है और कोई सन्देह नहीं, वह उसे पा लेता है। (छान्दोग्य)
एक सन्दूक है यह ससार, जिसका निचला तल पृथिवी है, ऊपर का ढकना द्यौ है और पेट अन्तरिक्ष है और मनुष्यों के कर्म, साधन और फलों का खजाना इसमें भरा है। (छान्दोग्य)
१ जैसे शिकारी के धागे से दृढ वधा हुआ कोई पक्षी दिशा-दिशा में उड़कर—फड फड़ाकर—और कहीं आश्रय न पाकर उसी स्थान का आश्रय लेता है, जहॉ वह वधा हुआ है, ठीक उसी तरह यह मन दिशा-दिशा में घूम कर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है, क्योंकि यह मन प्राण से वधा हुआ है। (छान्दोग्य) इसीलिए मन को कावू करने के लिए प्राण को कावू करना आवश्यक है।
१२ फूटे घडे से भरे हुए जल के समान मनुष्य की आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, वृद्धावस्था सिंहनी के समान समीप में ही गर्जना कर रही है, मृत्यु सिर पर सदा नाच रही है, लक्ष्मी छाया के समान चञ्चल है, जीवन जलतरङ्ग के समान क्षण-

मंगुर है—अतएव जो समय है, इसी में भगवान् का भजन कर लो।

२३ आत्म-प्राप्ति और प्रभु-प्रेम का सबसे बड़ा और सरल राज-मार्ग केवल ब्रह्मचर्य है। बिन्दु के क्षरण से मृत्यु और इसके रक्षण से अमृत मिलता है।

२४ अपने नेत्रों को चंचल न होने दो, स्त्रियों की ओर गहरी दृष्टि से न देखो यह ब्रह्मचारी के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है। (दयानन्द)

२५. मङ्ग सततु विधीयताम् (सज्जन-संग) सन्तों का सङ्ग करो।

२६ सर्व सन्ता हि सुखाय सन्त । सन्त सत्सङ्ग परम सुख के कारण होते हैं। (महाभारत)

२७. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम—भगवत्-सम्बन्धी बातें कानों से सुनें। (ऋग्वेद)

२८. भद्रं नो अपि वातय मनः—हे प्रभो ! हमारे मन को भली बातों की ओर प्रेरित कीजिए। (सामवेद)

२९. भक्त के लिए कर्मों का त्याग नहीं किन्तु कामनेच्छ कर्मों का त्याग आवश्यक है।

३ परमात्मा में पूर्ण अनुरक्ति का प्रयोजन यह है कि संसार के प्रति निःस्वार्थ प्रेम और उसकी विशुद्ध सेवा हो।

३१ इस अनित्य संसार में आकर अनित्य जीवन धारण कर अनित्य, सुख-ऐश्वर्य में भूलकर आत्म-कल्याण को नहीं भूलना चाहिए।

३२ सत्पुरुषों का सङ्ग भक्त के लिए आवश्यक है, यह बहुत से संशय मिटाकर विश्वास बढ़ाने और मन को निश्चल करने में बड़ा सहायक होता है।

३३ दुर्जन मनुष्य विद्वान् हो तो भी उसका सङ्ग छोड़ देना

चाहिए। मणि से भूषित साँप क्या भयङ्कर नहीं होता ?

भक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने हृदय में भगवान् के लिए प्रवल पिपासा को जगा दे, जब इस पिपासा से भक्त वेकरार हो उठता है तो फिर भगवान् की ज्योति सहज में प्राप्त हो जाती है।

ओ भगवान् का आह्वान करने वाले भक्त ! यह क्या कह रहा है, पवित्रता के उस स्रोत को मैले मन में कैसे ला सकेगा। इसे पहले शुद्ध कर ले—कुछ तो कूडा-कर्कट हटा ले, फिर उसे भी वुला लेना। भक्त ने कहा, मैं इसीलिए तो उसे वुलाता हूँ कि मैं हार गया हूँ, मुझसे मैला मन साफ़ नहीं होता, असमर्थ हो चुका हूँ, भगवान् अव कृपा कर दो न !

किसी को पीड़ा दिए विना, किसी को सताये विना, किसी की हानि किए विना, अपने वाहुवल अथवा मस्तिष्क वल से जो धन वा अन्न कमाया जाता है, वही मन को शुद्ध रख सकता है।

७ वाणी में मिठास नहीं है और सत्य वोल रहा है, तो भी ठीक नहीं, सत्य वोलो परन्तु ऐसा, जो कडवा न हो—दूसरों के हृदय चीर डालने वाला न हो।

८ मन, वचन और काया तीनों से दूसरों का उपकार करते रहना ही संतों—भक्तों का सहज स्वभाव हुआ करता है।

९ सन्त अच्छे भक्त-जनों का सङ्ग वडी कठिनाई से पुण्य रहने पर ही प्राप्त होता है। मनुष्य का अच्छा या वुरा होना संगति पर निर्भर है। जल की वूँद वही है किन्तु जलते हुए तवे पर पड़ने से उसका नाम तक नहीं रहता, वही वूँद कमल के पत्ते पर पडने से मोती सरीखी दिखाई देती है। समुद्र की सीप में जव वह गिरती है तो मोती वन जाती है, यह सव सङ्ग का ही फल है।

४० जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-रक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उसका वीर्य विषयाग्नि का ईंधनवत् है अर्थात् उसीमें व्यय हो जाता है। (सत्यार्थप्रकाश)

४१ स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय मिलना उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है—और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता और अपना चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है। (सत्यार्थप्रकाश)

४२. एक बार यदि मन भगवत्-रस का स्वाद पा ले तो फिर कामना पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

४३ पुरुष यदि काम को बार-बार अस्वीकार करे, त्याग करे उसके वेग में तनिक भी साथ न दे तो प्रकृति से वह सम्पूर्ण रूप से अलग हो जाता है और वास्तविक यही संयम की साधना है।

४४. मनुष्य का यह नश्वर मांस वाला स्थूल शरीर ही नहीं है, अपितु इसके अतिरिक्त जीव का एक और देह है जिसे सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर कहा जाता है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण मन और बुद्धि—यह सत्रह उपादान हैं। इस सूक्ष्म-शरीर ही में वासनामय संस्कार चिपटे रहते हैं, और इन्हीं के फलस्वरूप जीव पर-वश होकर कर्म करने को बाध्य होता है—इन्हीं वासनाओं को नष्ट करना मनुष्य का कर्तव्य है।

४५. वासनाओं को नष्ट करने का प्रथम साधन यह है कि मन में वैराग्य उत्पन्न करो परन्तु अपने वैराग्य को किसी पर प्रगट मत करो भीतर ही भीतर वैराग्य की बेल को बढ़ाते जाओ यदि चुपचाप वैराग्य को बढ़ाते जाओगे तो वासनाएं अपने आप भागने लगेंगी।

नम्रवाणी, विनय और प्रेम का प्रदर्शन चाहे जितना भी करो घर में रह रहे हो तो भाइयों से, नौकरों से, सबसे नम्रवाणी का प्रयोग करो।

अपने जीवन को सादा बनाओ, बहुत थोड़ी वस्तुओं से निर्वाह करो, जितनी आवश्यकताएँ और इच्छाए कम करते चले जाओगे, उतना ही अधिक परमात्मा के निकट होते चले जाओगे। यदि भगवान् की कृपा के पात्र बनने की अभिलाषा है तो भगवान् जिस स्थिति में रखें, उसी में सन्तुष्ट रहने की बान डालो। तुम्हारे शत्रु सावधान हैं, तुम्हें, नष्ट कर देने का मौका ढूँढ़ रहे हैं। तुम्हें सुन्दर, मन लुभावने तथा हृदय-आकर्षक दृश्य और कामनाओं में फसा कर तुम्हें निर्बल कर देंगे और फिर तुम्हें लूट लेंगे। ओ युवक! अपने जवानी के बल से इन काम, क्रोध लोभ, मोह और अहकार रूपी शत्रुओं पर विजय पा ले, नहीं तो वृद्ध-अवस्था में यह बुरी तरह तुम्हें सताएगे और आनन्द का सारा कोष लूट ले जाँयगे।

५० जब जीव मन, वाणी और कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करता, काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनोमलों को त्याग देता है, तब वह भगवान् का प्यारा बन जाता है।

५१ धीरे-धीरे बहिर्मुखता त्याग करके अन्तर्मुखता का सम्पादन करना ही साधना तथा भक्ति का सच्चा स्वरूप है।

५२ मन के चार प्रकार हैं—(१) धर्म से विमुख जीव का मन मुर्दा है। (२) पापी का मन रोगी है। (३) लोभी तथा स्वार्थी का मन आलसी है। और (४) भजन-साधन में तत्पर भक्त का मन स्वस्थ है।

५३ पहले तो मनुष्य जन्म पाना ही दुर्लभ है, वह मिल गया तो मानो संसार-सागर से पार होने के लिए नौका मिल गई, परन्तु इस नौका को खेने वाला कोई गुरु मिले और भक्ति की अनुकूल

वायु मिले, तभी यह पार जा सकेगी। इसलिए वीतराग अनुभवी गुरु और भक्ति की शरण लो। कहीं ऐसा न हो कि नौका पड़ी-पड़ी बेकार हो जाय।

५४. कोई भी काम करने लगो तो यह याद रखो कि ईश्वर तुम्हें देख रहा है यदि ऐसा ध्यान रखोगे तो कोई भी खोटा कर्म तुम नहीं करने पाओगे।

५५. सत्य और धर्म की रक्षा दृढ़ता से होती है, जिसे प्राणों का मोह है, वह कभी धर्म का पालन कर ही नहीं सकता।

५६ इसे मत भूलो कि किसी विषय में फँसना बहुत सहज है किन्तु फिर उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। सम्भल जाओ, भूल कर भी केवल क्षण-मात्र के लिए भी किसी विषय में मत फँसो।

५७ जिस प्रकार वायु की सहायता पाकर आग शुष्क तृण-समूह को जला देती है, इसी प्रकार चित्त में वासनाओं पाप-वृत्तियों को जलाने के लिए भगवान् की भक्ति समर्थ होती है।

५८. जिह्वा का स्वाद जब भक्त को घेर लेता है और वह अधिक खाने लगता है तो भक्ति रोने लगती है, भक्त भक्ति से दूर चला जाता है।

५९. विपत्ति कष्ट-क्लेश और दुःख में धैर्यवान् रहने वाला और उन्हें प्रसन्नता से सहकर फिर ऊपर आने वाला मनुष्य अपने आपको प्रभु-कृपा का पात्र बना लेता है।

६० प्राणियों के देह-धारण करने की सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ निर्भय और शोकरहित होकर भगवान् के गुणगान और भक्ति में तत्पर रहें।

६१ संत-समागम नितान्त दुर्लभ है। महात्मा सुन्दरदास जी ने क्या ही सुन्दर कहा है—

तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।

राज मिलै गज-बाज मिलै सब साज मिलै मन-वछित पाई ॥
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधिलोक मिलै वइकुण्ठहुँ जाई।
सुन्दर और मिलैं सब ही सुख, दुर्लभ सतसमागम भाई ॥

तीक्ष्ण-धारा वाली नदियों में जिस प्रकार कोई तृण शान्त नहीं रहता, बहकर इधर-उधर हो जाता है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्यहीन मनुष्य के चञ्चल हृदय में कोई साधन-विवेक नहीं टिकता, इधर-उधर बह जाता है।

जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप होने से सब दोष—दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। (सत्यार्थप्रकाश)

६४ परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करने से आत्मा का बल इतना बढेगा कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी वह नहीं घबराएगा। (सत्यार्थप्रकाश)

६५ विपत्ति यथार्थ में विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति यथार्थ में सम्पत्ति नहीं। भगवान् का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥

६६ विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि आपके दर्शन विपत्ति में ही होते हैं।

६७ मुँह के चमड़े सिकुड़ गए सिर के बाल श्वेत हो गए, सब अङ्ग ढीले हो गए, पर एक तृष्णा ही तरुणा हुई जा रही है। (भर्तृहरि)

६८. आशा नाम की एक नदी है—इसमें मनोरथ-रूपी जल भरा है। इसमें तृष्णा-रूपी लहरें हैं। राग ही इसमें मगर है। नाना प्रकार के तर्क-वितर्क पक्षी हैं। यह नदी प्रवाह में धैर्य-रूपी पेड़ को तोड़ देने वाली है। मोह ही इसके कठिन भंवर हैं और चिन्ता-रूपी इसके ऊंचे किनारे हैं—केवल शुद्ध मनवाले योगी ही इसके पार जाकर आनन्द करते हैं। (भर्तृहरि)

६९. भोग वैसे ही चंचल हैं, जैसे ऊंची पानी की लहर। प्राण क्षण भर में नष्ट होने वाले हैं। प्रियाओं में रमने वाली जवानी के सुख की स्फूर्ति दो चार दिन की है। इसलिए हे ज्ञानी पंडितो! इस अस्थिर संसार को निस्सार समझ, लोकानुग्रह के विषय में मन को अनुरक्त कर ब्रह्म-ध्यान करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? (भर्तृहरि)

७० मनुष्यों की आयु सौ वर्ष की परिमित है—उसका आधा भाग तो रात में ही बीत जाता है। उस बाकी का आधा लड़कपन और बुढ़ापे में चला जाता है। बाकी रोग व्याधि, वियोग, दुःख सेवा आदि में बीतता है। यह जीवन जल-तरंग के समान चंचल है, इसमें प्राणियों को सुख कहाँ? (भर्तृहरि)

७१ जब तक शरीर नीरोग और स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति न्यून नहीं हुई है और आयु भी क्षीण नहीं है, तभी तक अपने कल्याण के लिए पण्डित को बड़ा यत्न कर लेना चाहिए। नहीं तो घर में आग लगने पर कुआं खोदने की बात कैसी है? (भर्तृहरि)

७२. तुम चाहे कमल को कितना ही ताप दे कमल का मुँह उसके सामने सदा खुला रहेगा, तुम चाहे मेरे कष्टों का निवारण न करो मेरा हृदय तो तुम्हारी ही दया से द्रवीभूत होगा। यदि माता किसी कारण से बच्चे को अपनी गोद से उतार भी देती

है तो भी बच्चा उसी में अपनी लौ लगाये रहता है। यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्री का सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नही करती—इसी प्रकार भगवन्! मैं तुम्हें कैसे छोड़ सकता हूँ। (भक्त कलशेखर)

जिनका चित्त अखिल-सौन्दर्य के भण्डार परमात्मा (सुभव सुपेशस) में लगता है, वे क्या मनुष्य के क्षणभगुर और घृणित रूप पर आसक्त हो सकते हैं। (देवी)

ईश्वर ने हम लोगों को जो कुछ भी दिया है, वह बटोर कर रखने के लिए नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रों को देने के लिए है। (जरथुस्त्र)

जो लोगों के अत्याचारों से व्यथित नहीं होते, वही महापुरुष हैं। (मसूर)

६ पश्चात्ताप करो, पश्चात्ताप! आजतक जो कुछ भी हो चुका उसपर पश्चात्ताप करो। आँसू बहाकर मन का मैल दूर करो और भगवान् से कहो—महाराज! आज से अपने चरणों में स्थान दो, और कुछ दो या न दो परन्तु अपनी भक्ति का भाव अवश्य दो—पश्चात्ताप का रुदन मनुष्य के हृदय में अलौकिक शान्ति ले आता है।

७७ जब लोग मुझे पागल कहेंगे और मुझे अपने काम का न समझेंगे—जब ससारी लोग मुझे परे हटा देंगे, तभी मेरे मन में वास्तविक, तत्त्व का प्रकाश होगा।

७८ सुख-दुःख की स्थिति कर्मानुसार होने से उनका अनुभव सबके लिये अनिवार्य है, इसलिए सुख का अनुभव करते समय भी भगवान् को याद रखो और दुःखकाल में भी उनकी निन्दा न करो, अपितु भगवान् का धन्यवाद करो कि उन्होंने आपके मन के मैल को दूर करने का उपाय किया है—दुःख को तपस्या

और प्रायश्चित्त का रूप समझो।

७९. समय क्यों खो रहे हो—व्यर्थ की बातचीत से क्या लाभ—भगवान् में ही अपने चित्त को लगाओ। (मध्वाचार्य)

८० भगवान् ने तुम्हें जिह्वा क्यों दी? एक भक्त इसका यह उत्तर देता है—

> जिह्वा दो तन ही भली जपे हरि का नाम।
> नहीं तो काढ़ निकालिये मुख में भलो न चाम ॥

८१ यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी-लोग अपने शरीर-पोषण के लिए ही पकाते हैं, वो पाप को ही खाते हैं। (गीता)

८२. जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता-रहित और अहंकार-रहित, स्पृहा-रहित हुआ व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है। (गीता)

८३ नष्ट हो गए हैं सब पाप जिनके और ज्ञान-प्राप्ति से निवृत्त हो गया है संशय जिनका और सम्पूर्ण प्राणियों के हित में है रति जिनकी एकाग्र हुआ है भगवान् के ध्यान में चित्त जिनका ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (गीता)

८४ न धन चाहिए न मकान न वाटिका चाहिए, न दुकान—भाई, भगवान् की भक्ति के लिए केवल हृदय चाहिए, हृदय—और हृदय भी वह, जो प्रेम पवित्रता तथा पुरुषार्थ से भरा हुआ हो।

८५. जीवात्मा इन्द्रियों के वश में होकर निश्चय बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है। (मनु)

८६ जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्धि होती है, वैसे प्राणायाम करने से मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। (मनु)

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में ईन्धन और घी डालने से वृद्धि होती है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है, इसलिए मनुष्य को विषयासक्त न होना चाहिए। (सत्यार्थ प्रकाश)

८८ किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता, इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते, तथापि निश्चय जानो कि अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। (मनु)

८६ जो प्राप्त के अयोग्य की कभी इच्छा न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को प्राप्त न हो अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है। (मनु०)

६० जब तक ससार हमारे मन में बसा हुआ है, तबतक भगवान् दूर प्रतीत होते हैं। जैसे ही ससार हटा और मन में भगवान् का प्रकाश आया। बुल्ले शाह ने एक बार प्याज की पनीरी लगाते हुए कहा था—

बुल्लया रब दा की पाना।
एधरों पुटना ते एधर लाना॥

६१ प्रभु का विस्मरण ही मृत्यु है, प्रभु का स्मरण ही जीवन है— 'यस्य च्छाया अमृत यस्य मृत्यु'।

६२ घट-शुद्धि के लिए 'ओम्' नाम का जाप बहुत आवश्यक है, अनुभवी-जनों ने बताया है कि नाम जप के साथ यदि ॐ का ध्यान भी किया जाय तो बहुत शीघ्र सिद्धि होती है।

६३ नित्य धर्म का सचय करते चले जाओ, धर्म ही की सहायता से बड़े-बड़े दुस्तर दु खसागर को जीव तर जाता है। (मनु०)

६४ जो मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों के करने

पाता है। (मनु)

१५. प्रभु-प्रेमी के वाक्यों तथा नेत्र आदि से प्रेम की वर्षा होती रहती है, उसका मार्ग प्रेम से पूर्ण होता है।

१६ जो देहधारी है, वह दुःख-सुख की प्राप्ति से पृथक् नहीं रह सकता इसलिए दुःख-सुख का बहुत ध्यान न रखे। (छान्दोग्य)

१७ मछली का जल में पपीहे का मेघ में चकोर का चन्द्रमा में जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभु में हो एक पल भी उसके बिना चैन न मिले शान्ति न मिले।

१८. "भगवान् के प्रति किसका प्रेम सच्चा है?" यह एक प्रश्न था जिस पर दो प्रभु-प्रेमियों में बातचीत होने लगी—

एक ने कहा—भगवान् के भेजे हुए दुःख को जो स्थिरता से सहन नहीं कर सकता, वह सच्चा प्रेमी नहीं।

दूसरे ने कहा—किन्तु इसमें अभिमान की गन्ध आती है।

पहले ने कहा—वह सच्चा प्रेमी नहीं जो दुःख के लिए भगवान् को धन्यवाद न दे।

दूसरा—इससे भी और ऊँचा दर्जा है।

पहला—वह सच्चा प्रेमी नहीं जो दुःख की प्रतीति न करे।

दूसरा—यह सबसे उत्तम नहीं है—सबसे उच्चकोटि का प्रेम वह है, जिसमें मनुष्य भगवान् में ऐसा लीन रहे कि उसे दुःख की खबर ही न हो।

भक्तों के भजन

[१][1]

हे जगत् स्वामी प्रभु जी भेंट धरूँ क्या मैं तेरी।
माल नहीं मेरे सम्पत नाहीं, जिसको कहूँ मैं मेरी।
इस जग में हम ऐसे विचरें, जोगी करे ज्यों फेरी।
धन जन यौवन अपना माने, मृगवत भूला भारी।
तुम बिन और सहाई न मेरा, देख लिया मैं विचारी।
यह तन यह मन होवे न अपना, है सब माल तुम्हारा।
जब चाहे तब ही तू लेवे, नहीं कुछ जोर हमारा।
तुमरे हि दर का भिखारी मैं स्वामी, लाज तुम्हें है मेरी।
चरण शरण निज अर्पण करके, देओ भक्ति बिन देरी।

[२]

पितु मात सहायक स्वामी सखा, तुम ही एक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो।
प्रतिपाल करो सिगरे जग को, अतिशय करुणा उर धारे हो।
महाराज ! महा महिमा तुम्हरी, समझे विरले बुधवारे हो।
शुभ शान्तिनिकेतन प्रेम-निधे ! मन-मन्दिर के उजियारे हो॥

१—श्री महात्मा हंसराज जी का प्यारा भजन, जिसे वह प्रति दिन प्रात गाया करते थे, और जब आप मृत्यु शय्या पर पड़े थे, तब भी यही भजन सुना करते थे।

यदि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्राणन के तुम प्यार हो।
तुम सों प्रभु पाव 'प्रताप' हरि, केहि के अब और सहारे हो॥

[३]

हे दयामय ! आपका हम को सदा आधार हो।
आपके भक्तों से ही भरपूर यह परिवार हो॥
छोड़ देवें काम को और क्रोध को मद मोह को।
शुद्ध और निर्मल हमारा सर्वथा आचार हो॥
प्रेम से मिल मिल के सारे गीत गावें आपके।
दिल में बहता आपका ही प्रेम पारावार हो॥
जय पिता जय जय पिता हम जय तुम्हारी गा रहे।
रात दिन घर में हमारे आप की जयकार हो॥
धन धान्य घर में जो सभी कुछ आप का ही है दिया॥
इसके लिये प्रभु आपको धन्यवाद सौ-सौ बार हो॥
पास अपने हो न धन तो उसकी कुछ परवाह नहीं।
आप की भक्ति से ही धनवान यह परिवार हो।

[४]

आज सखी[1] बिछुरो पिय आयो, मिट गये सकल अंदेशा री॥
सागर धाय नदी नद नारे, ग्राम नगर गिरि कानन सारे।
एक न छोड़ो ढूँढ फिरी मैं, भटकी देश-विदेश री॥
मैं बिरहिन वैसी बौरानी खोजत डोली सब्द अनामी।
घेर घेर जोगन बहकाई, करि जोरे उपदेश री॥
बीत गई सारी तरुणाई पर प्यारे की थाह न पाई।
खोजत खोजत मो दुखिया के धौरे हो गये केश री॥
जोगि एक अचानक आयो जिन मेरी भरभर ढहायो।
सो 'शंकर' सांचो हितकारी भ्रम-तम पटल दिनेश री।

१—सखी। २—एर्वे।

[५]

नैया कैसे उतरे पार ? ॥ टेक ॥

वार न दीखे पार न सूझे आन पड़ी मझधार ॥

बिजली चमके बादल गरजे, उलटी चलत बयार।

गहरी नदिया नाव पुरानी, केवट अति मतवार ॥

द्रुपद सुनावत सुने न कोई, मेरी कूक पुकार ।

वेगवती दुस्तर जल धार, उठी तरङ्ग अपार ॥

जिन हाथों में सब जग थामा, सो प्रभु हाथ पसार।

'अमीचन्द' को तारो नौका, डूब रही मझधार॥

[६]

पी कर तेरा प्रेम प्याला हो जाऊँ मतवाला ॥

प्रेम की बाती प्रेम का दीपक प्रेम की होवे ज्वाला।

मन-मन्दिर में जगमग करके हो जावे उजियाला।

मेरे घर के अन्दर बहता होवे प्रेम का नाला।

जब जब प्यास लगे उसमें से भर कर पी लूँ प्याला ॥

धो दे प्रेम-वारि से अब तू मन मेरा मटियाला ।

तेरे प्रेम के रङ्ग में रङ्ग कर हो जाऊँ रंगियाला ॥

प्रेम-अश्रु से सिंचित प्रेम का बाग लगे हरियाला।

प्रेम-प्रसून[1] लगे हों उसमें उनकी गूथूँ माला ॥

[७]

हमने ली है प्रभु इक तुम्हारी शरण,

हे पिता और कोई हमारा नहीं।

पतित-पावन अब आसरा दो हमें,

आसरा और कोई हमारा नहीं ॥

न बुद्धि, न भक्ति, न विद्या का बल,

१—पुष्प, फूल।

हृदय पे पड़ी चोट कभी को मेरे।
तुम्हारी कृपा का है इक आसरा,
तुमन जिस किस को स्वामी हमारा नहीं॥
यह विनय है मेरी पिता मान लो
हमारों के दुःखों को पहचान लो।
तुम्ही मनके अरमान को जान लो
हाथ किसी और को पसारा नहीं॥

[८]

गये दोनों जहान नजर से गुजर, तेरा हुस्न का कोई बशर न मिला।
नहीं हर जगह तेरी निराली फबन तेरा भेद किसी को मगर न मिला॥
तेरी चर्चा जहाँ की जबानों पे है तेरा शोर जमाने के कानों में है।
मगर आँखों से देखा जो परदा नहीं कहीं तू न मिला तेरा घर न मिला॥
कोई मिलने का तेरे मियाद भी है, कोई रहने का तेरे मकान भी है।
मुझे देखा इधर तो इधर न मिला मुझे ढूँढा उधर तो उधर न मिला॥
कहीं रहने मकान सबब नहीं किसी और पै यूँ मुझे नाज नहीं।
कोई तुम सा गरीबनवाज नहीं। तेरे दर के सिवा कोई दर न मिला॥

[९]

शुभ मन हित की बात सुनाऊँ।
नित विषयों की सोच करे तू यह पीऊँ यह खाऊँ।
यह ओढ़ूँ यह गान सुनूँ यह सुगन्ध छिड़काऊँ॥
कभी न सोचा भूल के तू ने काम किसी के आऊँ।
इन हाथों से किसी दुःखी का कुछ तो दर्द मिटाऊँ॥
ले उपाय एक साथ सँवारूँ कुछ जोहर दिखलाऊँ।
और नहीं तो आँसू तक ही पोंछ किसी के आऊँ॥
छोड़ मरे सोवे मन मूरख जग के पीर बचाऊँ।
तुच्छ विचार अपनी चमड़ी पर मैं क्यों कर इतराऊँ॥

जीते जी कर ले कुछ करनी बारहि बार मनाऊँ।
कहीं न रोवे अब घीते दिन कैसे फेर बुलाऊँ॥
बिन माँगे मन वन्न पावे वह तुम को राह बताऊँ।
प्रभु-भजन वह कल्प-वृक्ष है जिससे सब फल पाऊँ॥

---

[१०]

पिता जी तुम पतित उधारन हार।
दीन-शरण कंगाल के स्वामी, दुख के मोचन हार॥ १॥
इस जग माया-जाल भ्रमण में सूझे न सार असार॥ २॥
सत्य-ज्ञान बिन अन्ध मग डोले, करें असत्य आचार॥ ३॥
पाप-प्रवाह भयंकर जल में, डूबत हैं मझधार॥ ४॥
तुमरी दया बिन को समर्थ है, करे दीनन को पार॥ ५॥

—०—

[११]

टेक—शरण पड़ी हू मैं तेरी दयामय, शरण पड़ी हू मैं तेरी दयामय॥
जगत सुखों में फंस कर स्वामी, तुझ से लिया चित्त फेरी—दयामय०
पाप-ताप ने दग्ध किया मन, दुर्मति ने लिया घेरी—दया०॥
बही जात हू भवसागर में, पकड़ लेओ भुजा मेरी—दया०।
अनेक कुकर्म गिनो मत मेरे, क्षमा-दृष्टि देखो फेरी—दया०॥
सत्संग ज्ञान मधुर सुख अपना, करो प्रकाश एक बेरी—दया०।
पाप-मलीन हृदय में मेरे, ज्योति प्रकाशो तेरी—दया०॥
प्रेम-तरंग उठे मन-अन्दर, नाथ विनय सुनो मेरी—दया०।

[१२]

जय जय पिता परम आनन्द दाता।
जगदादिकारण मुक्ति प्रदाता॥

नित्य स्वाध्याय के लिए उप

१ दीपक (हिन्दी)—मनुष्य-जीवन को स
विद्वान और विचारशील लेखक श्री मिश्किनलाल दीवान अपने विचार और अनुभव से बहुत ही सामयायन उपाय लिखे हैं। मूल्य १)

२ वर्णाश्रम और प्राचीन समाजवाद—इस धर्म के हर पहलुओं पर पूर्ण विचार किया गया आरम्भिक इतिहास से लेकर पूर्ण व्यवस्था तक का विचार सर्वेक्षण इस पुस्तक में पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी ने किया है। अन्त में यह मत दर्शाया गया है कि प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था ही सच्चा समाजवाद है। मूल्य १)

३ स्वाध्याय-सन्दोह—इस पुस्तक में ११७ वेद-मन्त्रों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गई है। गृहस्थों के लिए श्री स्वामी वेदानन्द जी का बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। सारा वर्ष प्रति दिन आप इससे अमृत-पान कर सकते हैं। इसे पढ़िए और इससे मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक शक्ति प्राप्त कीजिए। मूल्य ४)

४ वैदिक मन्त्र-स्तोत्र—यह १०८ पुष्पों की एक सुन्दर पुष्पमाला है, जिसका चयन पं० बुद्धदेव जी मीरपुरी ने किया है और भावानुवाद की मधुर भाषा श्री रघुवीर जी ने लिखी है। मूल्य ।।।)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त सभा ने समाजों के लिए—

(१) रजिस्टर आय व्यय
(२) रजिस्टर मासिक चन्दा—बड़ी सुन्दर जिल्द और बढ़िया कागज लगा कर बनवाए हुए हैं इनका मूल्य आठ आने प्रति रजिस्टर सभा ने रखा हुआ है, क्योंकि कागज का मिलना बहुत कठिन है।

हरीराम अधिष्ठाता महात्मा हंसराज साहित्य-विभाग
आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर।

श्री जिन शासन पुष्पोद्यान पुष्पमाला का ६वां पुष्प।

卐 धर्म वाणी 卐

संपादक—

श्री श्री पूज्य जैनाचार्य प्रधानाचार्य आगमाचार्य
बाल ब्रह्मचारी पूज्य श्री १००८ श्री
सोहनलाल जित्सूरीश्वर के शुशिष्य
प्रवर्तक पदालकृत वैराग्यमूर्ति पण्डित
रतनमुनि श्री ताराचन्दजी
महाराज पंजाबी।

प्रकाशक—

विक्रम सम्वत् २००६
इसवी सन १९५२

मूल्य
।=)

वीर सम्वत २४७६
पूज्य श्री सोहनलाल
स्वर्गवास वर्ष १७

आनुपूर्वी पढ़ने वालों को आनुपूर्वी पढ़ते समय निम्न पांच नियमों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(१) आनुपूर्वी सांसारिक साधन के लिये नहीं पढ़नी चाहिये।

(२) आनुपूर्वी एकाग्रता पूर्वक और विनय से पढ़नी चाहिए।

(३) आनुपूर्वी अशुद्धस्थान पर नहीं पढ़नी चाहिये।

(४) आनुपूर्वी मौन से पढ़नी चाहिये।

(५) आनुपूर्वी विवेक पूर्वक पढ़नी चाहिए।

आनुपूर्वी गुणने को हो इछ जासी तबका करम हस्य।
संदेह मत लाओ प्यारा निर्मल मन अपना रखकर।
गुरुगम धारी विवेक से जो पढ़ो इसका पद।
आगम भाषा में कहा अरिहंत पांच सौ सागर के पाप मिटे।
अशुभ कर्म के मिटाने को, मंत्र महा है नवकार।
सो कहें शुभ भाव से पावे अक्षय द्वार॥

प्रथम कोष्टक (१)

णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५
णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाण २
णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४
णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १
णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाण ३

द्वितीय कोष्टक

णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३
णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५
णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाण २
णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४
णमो सिद्धाण २	णमो आयरियाण ३	णमो उवज्झायाण ४	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो अरिहताण १

तृतीय कोष्टक

णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४
णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २
णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३

चतुर्थ कोष्टक

णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४
णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २
णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३
णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १

पांचवां कोष्टक (३)

णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४
णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १
णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३
णमो अरिहंताणं १	णमो सिद्धाणं २	णमो आयरियाणं ३	णमो उवज्झायाणं ४	णमो लोए सव्वसाहूणं ५

छठा कोष्टक

णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १
णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३
णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४

सातवाँ कोष्टक

णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४
णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २
णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १

आठवाँ कोष्टक

णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २
णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १
णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाणं ४

नोवां कोष्टक (५)

णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाण २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूण ५
णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३
णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताणं १
णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाण २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो उवज्झायाण ४
णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३	णमो सिद्धाणं २

दशवां कोष्टक

णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताण १
णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाण ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो उवज्झायाण ४	णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो सिद्धाणं २	णमो अरिहंताण १	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो उवज्झायाणं ४

तेहरवा कोष्टक

णमो अरिहंताण १	णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाण २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३
णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताण १	णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाणं २
णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताण १
णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाण २	णमो लोए सव्वसाहूण ५
णमो सिद्धाण २	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताण १	णमो उवज्झायाण ४

चोहदवा कोष्टक

णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाण २
णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाण २	णमो लोए सव्वसाहूण ५	णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताणं १
णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताण १	णमो उवज्झायाण ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाण ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाण ४
णमो अरिहंताण १	णमो उवज्झायाणं ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३

पन्द्रहवां कोष्टक

णमो उवज्झायाणं ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताणं १
णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाणं ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाणं ४
णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाणं ४	णमो सिद्धाणं २	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो आयरियाणं ३	णमो अरिहंताणं १	णमो उवज्झायाणं ४	णमो सिद्धाणं २

सोलहवां कोष्टक

णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३
णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १
णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४

सतरहवा कोष्टक

णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १
णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४
णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३

अठारहवा कोष्टक

णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १
णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४
णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३
णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहू णं ५	णमो सिद्धाणं २

उन्नीसवां कोष्टक

णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३
णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १

बीसवां कोष्टक

णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५
णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४
णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३
णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १	णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २
णमो आयरियाणं ३	णमो लोए सव्वसाहूणं ५	णमो सिद्धाणं २	णमो उवज्झायाणं ४	णमो अरिहंताणं १

॥ श्री मज्जैनाचार्य्य श्री सोहणलाल जित्सूरिश्वर भ्यो नम: ॥

❋ धर्म—वाणी ❋

(१)—महामंत्र परमेष्ठी—

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं ।
णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण ॥
णमो लोए सव्व साहूण ।
एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं, पढ़म हवइ मगल ॥

(२)—गुरू वदना मत्रः—

तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिण, करेमि वंदामि ।
नमसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं ।
मगलदेवयं चेइय पज्जुवासामि मत्थएण वदामि ।

(३)—सम्यक्तव मत्र ।

अरिहंतो मह देवो जाव जीवाय सुसाहू सुगुरूण ।
जिण पण्णत्त तन्त एय सम्पत्त मगाहिय ॥१॥
पंचिंदीय सवरणो तह नव विह वम्भचेर गुत्ति धरो ।
चउविह कसाय मुक्कोइय अठारस्स गुणेंहिं संजुत्तो ॥२॥
पच महव्वयजुत्तो, पचविह आयार पालण समत्थो ।
पंचसमिओ त्तिगुत्तोइय छत्तीस गुणो गुरू होई सो गुरू मज्झ ॥३॥

(४)–मार्ग पाप निवृत्ति मंत्र।

इच्छा कारेण संदिसह भगवम् इरिया, वहियं पडिक्कमामि, ।
इच्छं इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए, विराहणाए ।
गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ।
उसा उत्तिंग पणग दग, मट्टीमक्कडा, संताणा संकमणे ।
जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया, चउरिंदिया,।
पंचिंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया संघाइया संघट्टिया, ।
परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणा, ठाणं संकामिया ।
जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

(५) ध्यान–शुद्धि मंत्र—

तस्स उत्तरी करणेणं पायच्छित्त करणेणं, विसोही करणेणं ।
विसल्ली करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।
अन्नत्थ ऊससिएणं निससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं ।
उड्डुएणं वायनिसग्गेणं, भमलिए, पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंग संचालेहिं।
सुहुमेहिं खेल संचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठी संचालेहिं एव माइएहिं ।
आगारेहिं, अभग्गो अविराहिओ, हुज्जमेकाउस्सग्गो जाव अरिहंताणं ।
भगवंताणं नमोक्कारेणं नपारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं ।
झाणेणं अप्पाणं वोसरामि ॥

(६)–अरिहंत स्तुति मंत्र।

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्म तित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं चउविसंपि केवली ॥१॥
उसभ मजिअं च वन्दे संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।

पउमप्पह सुपास जिण च चन्दप्पहं वन्दे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदेत, सियल सिज्जस वासुपुज्ज च।
विमल मणत च जिण धम्म संति च वन्दामि ॥३॥
कुंथुं अरच महिन्न वन्दे, मुणिसुव्वय नमि जिण च।
वन्दामि अरिहेनेमि पास, तह वद्धमाण च ॥४॥
एवमए अभित्थुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउविसंपि जिणवरा, तित्थयरामे पसीयतु ॥५॥
कित्तिय वन्दिय महिया जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुगबोहिलाभ, समाहिवरमुत्तमदिंतु ॥६॥
चन्देसु निम्मल यरा आइच्चेसु अहिय पया सयरा।
सागरवरगभीरा सिद्धा, मिद्धिमम दिसन्तु ॥७॥

(७,–सामायिक ग्रहण मंत्र।

करेमि भन्ते सामाइयं सावज्जं जोग पच्चक्खामि जावनियम मुहूर्त * पज्जुवासामि दुविह तिविहेण, नकरेमि, नकारवेमि, मणसा, वायसा। कायसा तस्स भन्ते पडिक्कसामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥

(८)–अरिहंत सिद्ध स्तुति मंत्र।

णमोत्थुणं, अरिहताण, भगवताण, आइगराण, तित्थयराण। सयसबुद्धाण, पुरीसोत्तमाण, पुरिसमिहाणं पुरिसवरपु डरियाण, । पुरिसवरगधहत्थीण, लोगुत्तमाण, लोगनहाण, लोगहियाण

---

* जितनी सामायिक करनी हों उतने मुहूर्त कहे जैसे १ करनी है, वो मुहूर्त १ बोले।

लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं
सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं
धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं
दीवोताणं सरणगइपइट्ठा अप्पडिहयवरनाणं दंसणधराणं ।
विअट्ट छउमाणं जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं ।
बोहियाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयल
मरुय मणंत मक्खय मव्वाबाह मपुणरावित्ति सिद्धि गइ नामधेयं ठाणं
संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं ।

(६)—सामायिक पारन का पाठ ।

नवमें सामायिक व्रत के विषय जो कोई अतिचार लगा हो तो मैं आलोऊं मन वचन काया का जोग खोटा प्रवर्ताया हो सामायिक में समता न करी हो बिना पूर्ण पारी हो, दस मन के दस वचन के बारह काया के इन बत्तीस दोषों में से जो कोई दोष पाप लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

सामायिक करने की विधि ।

प्रथम स्थान आसन रजोहरणी मुखवस्त्रिका आदि की प्रतिलेखना करके आसन बिछावे । फिर मुख पर मुखवस्त्रिका बांधकर मुनि महाराज न हों तो पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके श्री सीमंधर भगवान् से । वन्दना-पूर्वक सामायिक करने की आज्ञा लेवे । फिर ।।सम्यक्त्व सूत्र।। पढ़ने के बाद ।।गमना गमन पाप निवृत्ति सूत्र।। पढ़कर ।।ध्यान शुद्धि सूत्र।। बोले । इसके पश्चात् अरिहंत स्तुति सूत्र।। का ध्यान करे तथा नमो अरिहंताणं कह कर ध्यान पूर्ण करे । फिर

अरिहत स्तुति सूत्र ऊंचे स्वर से बोलाकर, ।।सामायिक ग्रहण सूत्र।। से सामायिक लेवे । तत्पश्चात् आसन पर बैठ बांया घुटना खड़ा कर हाथ जोड़ सिद्ध अरिहत स्तुति सूत्र।। दो बार पढे । दूसरी बार ।।ठाणं संपा-विऊ कामाणं।। बोलना चाहिए ।। पश्चात् सामायिक काला पूर्ण होने तक ज्ञान ध्यान आदि शुभ क्रियाओं में समय बिताना चाहिए ।

।। सामायिक पारने की विधिः ।।

प्रथमा गमन पाप-निवृत्ति सूत्र से लेकर ध्यान तक समस्त पूर्वोक्त क्रियाएँ करे । फिर दो बार उसी प्रकार से सिद्ध अरिहत स्तुति सूत्र पढे । पश्चात् ।। सामयिक पारन ।। सूत्र पढे । फिर तीनवार मत्र नवकार का उच्चारण करके सामयिक पूर्ण करना ।

मत्र सथारा धारण करने का ।

आहार शरीर उपधि, पचक्खु पाप अठार ।
मरण पाऊं तो वो सिरे जीऊं तो अगार ।।

विधि'—सथार पारन हो ? तो तीन बार परमेष्टि मत्र पढ़कर पारना चाहिए ।

सवर लेने का मंत्रः—

द्रव्य से पाच आश्रव सेवन करने का पच्चक्खाण,
क्षेत्र से यावत क्षेत्र प्रमाण, काल से यावत् काल प्रमाण
भाव से उपयोग सहित गुण से निर्जरा के हेतु दुविहं तिविहेण न करेमि नकारवेमि. मनसा वयसा कायसा तस्स भते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

विधि'—सवर लेन से प्रथम ७ बार परमेष्टि मत्र को पढ़ना चाहिए और पारने के लिए ६ बार पढना चाहिए ।

पौषध व्रत ग्रहण करने का मंत्र ।

ग्यारहवाँ पौषध व्रत असणं पाणं खाइमं साइमं चारों आहारों का पच्चक्खान अबंभ सेवन का पच्चक्खान माला वन्नग विलेपन का पच्चक्खाण अमुक मणि सुवर्ण का पच्चक्खान शस्त्र मुसलादिक सावद्य जोग का पच्चक्खान जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वायसा कायसा तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

पौषध व्रत पारने का मंत्र ।

ग्यारहवाँ पौषध व्रत का पंच अइयार जाणियव्वा न
समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय
सेज्जा संथारए अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सेज्जा संथारए
अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पास वण भूमि
अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चार पासवण भूमि
पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणयाए तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

सब प्रत्याख्यान लेने का मंत्र ।

देव गुरु धर्म की साक्षी से (वस्तु का नाम) उपभोग परिभोग पच्चक्खामि अन्नत्थणाभोगेणं सहसा गारेणं महत्तरागारेणं वोसिरामि ॥

सर्व पच्चक्खान पारने का मंत्र ।

उपरोक्त किसी भी पच्चक्खाण का पारने के समय हो तो इस पाठ को पढ़ना । समंकाएणं न फासियं न पालियं सोहियं न तिरियं न किट्टियं न आराहियं आणाए अणुपालिया न भवइ जाव न भवइ

तस्य मिच्छामि दुक्कडं। यह मंत्र पढे फिर पंच परमेष्ठि नवकार पढकर पच्चक्खाणं को पूर्ण करे।

दया व्रत लेने का मंत्र।

उग्गए सूरे छज्जी वणी काय विराहणाए, पंच सव्वदाराणं वा पच्चक्खामि दुविह तिविहेण न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

२४ तीर्थ करो के नाम

(१) श्री ऋषभदेवजी
(२) ,, अजीतनाथजी
(३) ,, समभवनाथजी
(४) ,, अभिनन्दनजी
(५) ,, सुमतिनाथजी
(६) ,, पद्मप्रभुजी
(७) ,, सुपार्श्वनाथजी
(८) ,, चन्द्रप्रभुजी
(९) ,, सुविधिनाथजी
(१०) ,, शीतलनाथजी
(११) ,, श्रेयांसनाथजी
(१२) ,, वासु पूज्यजी
(१३) श्री विमलनाथजी
(१४) ,, अनन्तनाथजी
(१५) ,, धर्मनाथजी
(१६) ,, शान्तिनाथजी
(१७) ,, कुंथुनाथजी
(१८) ,, अरहनाथजी
(१९) ,, मल्लिनाथजी
(२०) ,, मुनिसुव्रतनाथजी
(२१) ,, नेमिनाथजी
(२२) ,, अरिष्टनेमिनाथजी
(२३) ,, पार्श्व नाथजी
(२४) ,, वर्द्धमानजी

श्री विहरमानों के नाम।

(१) श्री सीमंधर स्वामी,
(२) श्री जुगमंदिर स्वामी,
(३) श्री बाहुजी स्वामी,
(४) श्री सुबाहुजी स्वामी,

(५) श्री सुजात स्वामी

(६) श्री स्वयंप्रभु स्वामी

(७) श्री ऋषभानन्द स्वामी

(८) श्री अनंतवीर्य स्वामी

(९) श्री सुरप्रभु स्वामी,

(१) श्री विशालधर स्वामी

(११) श्री वज्रधर स्वामी

(१२) श्री चन्द्रानन स्वामी

(१३) श्री चन्द्रबाहु स्वामी

(१४) श्री भुजंग स्वामी,

(१५) श्री ईश्वर स्वामी

(१६) श्री वीरसेन स्वामी

(१७) श्री नेमप्रभु स्वामी,

(१८) श्री महाभद्र स्वामी

(१९) श्री देवयश स्वामी,

(२) श्री अजितवीर्य स्वामी ।

११ गणधरों के नाम ।

(१) श्री इन्द्रभूति जी

(२) श्री अग्निभूति जी

(३) श्री वायुभूति जी

(४) श्री विगतभूति जी

(५) श्री सुधर्माभूति जी

(६) श्री मण्डितपुत्र जी

(७) श्री मौर्यपुत्र जी

(८) श्री अकंपित जी

(९) श्री अचल भूतिजी

(१) श्री मेतार्य जी

(११) श्री प्रभास ।

नन्दी सूत्र ।

जयइ जग जीव जोणि वियाणओ जग गुरू जगाणंदो

जगणाहो जग बंधू जयइ जगप्पिया महो भयवं ॥१॥

जयइ सुआणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमोजयइ ।

जयइ गुरु लोगाणं जयइमहप्प महावीर ॥२॥

भद्दं सव्व जगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स ।

भद्दं सुरासुर नमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥३॥

गुण भवणगहण सुयरयण भरिय, दंसण विसुद्धरत्थागा ।

सघनगार भद्द ते अखड--चारित्तप्परगा ॥४॥
सजम तव तु बारयस्स, नमोसम्मत्त पारियहन्नस्स ।
अप्पडिचक्कसजओ, हो उसया सघचक्कस्स ॥५॥
भद्द सील पडागू सियस्य तव नियम तुरत जुत्तस्स ।
सनरहस्स भगवओ, सज्झायसुनदि घोसस्स ॥६॥
कम्मरय जलोह विणिगयस्स, सुयरयणदीह ।
नालस्स पचमहव्वय थिर कण्णियस्स गुण केसरालस्स ॥७॥
साघग जणमहुयर परिवुडस्स, जिण सूर तेय बुद्धस्स ।
संघ पउमस्सभद्द . समण गण सहस्स पत्तस्स ॥८॥
व सयममयलछ्रण, अकिरिय राहु मुहु दुद्धरिस निच्च ।
जयसघ चद निम्मल, सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा ॥९॥
परतित्थिय गह यह नास गस्त तव ते दित लेस्य ।
नाणुज्जो यस्स जए भद्द दम सघ सूरस्स ॥१०॥
भद्द धिइवेना परिगयस्स सज्झाय जोग मगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, सघ समुदस्य रूदस्स ॥११॥
गुण रयणुज्जल कडय सील सुगन्धि तव मंडि उद्दस्स ।
सुय बारस सिहर, सघ महामदर वदे ॥१२॥
निव्वुइयहसासणं, जयइ सया सव्व भाव ।
देसणय कुसमय मय ना सणयं, जिणिंदवर वीर सासणय ॥१३॥
नमि ऊंण असुर सुर गरूल भूयङ्ग परिवन्दिए ।
गय किले से अरिहे सिद्धाय रिय उवज्झाय सव्वसाहूण ॥१४॥
चइत्त भारहंवास, चक्क वट्टी महि हिडओ ।
सन्ति सन्ति करे लोए पत्तो गई मणुत्तर ॥१५॥

देव दाणव गंधव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति ते ॥१६॥
एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं सिज्झिस्संति तहावरे ॥१७॥

ग्रह-शान्ति —

ग्रह दशाओं में जिसको सूर्य ग्रह हो, वह निम्नोक्त मंत्र पूर्व दिशा सम्मुख बैठ कर ७[illegible] जाप जपे लाल रंग की माला से ।

(१) ॐ ह्रीं श्री पद्म प्रभ नमस्तेभ्य मम शांतिं कुरु २ स्वाहा ।

ग्रह दिशाओं में जिसका चन्द्र ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र उत्तर दिशा संमुख बैठ ११ जाप जपे सफेद रंग की माला से ।

(२) ॐ ह्रीं श्री चन्द्रप्रभ नमस्तेभ्य मम शांति कुरु २ स्वाहा ।

ग्रह दशाओं में जिसको मंगल ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र पूर्व दिशा संमुख बैठ ८ जाप जपे लाल रंग की माला से ।

(३) ॐ ह्रीं श्री वासु पूज्य नमस्तेभ्य मम शांति कुरु २ स्वाहा ।

ग्रह दशाओं में जिसको बुध ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र पूर्व दिशा संमुख बैठ १ ०० जाप जपे पीले रंग की माला से ।

(४) ॐ ह्रीं श्री [illegible] शांति नाथ नमस्तेभ्य मम शांति कुरु २ स्वाहा ।

ग्रह दशाओं में जिसको गुरु (बृहस्पति) ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र उत्तर दिशा संमुख बैठ १९ जाप जपे पीले रंग की माला से ।

(५) ॐ ह्रीं श्री नमो महावीर नमस्तेभ्य मम शांति कुरु २ स्वाहा ।

ग्रह दशाओं में जिसको शुक्र ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र पूर्वदिशा संमुख बैठ ११ जाप जपे सफेद रंग की माला से ।

(६) ॐ ह्रीं श्रीमद् सुविधिनाथ नमस्तेभ्यमम शांति कुरु कुरु स्वाहा ।

ग्रह दशाओं मे जिसको शनि ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र उत्तर दिशा समुख वेठकर २३००० जाप जपे श्याम रंग की माला से।

(७) ॐ ह्रीं श्रीं नमो मुनिसुव्रत प्रभवे मम ग्रह-शांति कुरु २ स्वाहा।

ग्रह दशाओं में जिसको राहु ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र पूर्व दिशा समुख वेठकर १८००० जाप जपे-श्याम रंग की माला से।

(८) ॐ ह्रीं श्रीं नमोऽरिनेमिनाथ प्रभवे मम ग्रह-शांति कुरु २ स्वाहा।

ग्रह दश ओं जिसको केतु ग्रह हो वह निम्नोक्त मंत्र पूर्व दिशा समुख वेठकर १७००० जाप जपे पीले रंग की माला से।

(९) ॐ ह्रीं श्रीं नमः पार्श्व नाथ प्रभवे मम ग्रह-शांति कुरु २ स्वाहा।

(नोट) जो नव ग्रह के जाप बतलाए हैं वे सब जपे तथा ५ तथा ७ दिन में ज्यादा से ज्यादा ९ दिन मे पूर्ण कर लेना चाहिए।

जैनाचार्य आचार्य साम्राट पूज्य श्री सोहनलालजी की स्तुति।

हर्ष मन हुआ दर्श को करके श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥टेक॥

आपका नाम है सुखकारी, होवें नाश कष्ट दुःख भारी।

जाऊं चरण कमल वलिहारी श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥१॥

गुण ग्राही और थे क्षमा के सागर, कर गये जिन धर्म उजागर।

धारू चरण शरण में आकर, श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥२॥

तप तो करते अपरपार, जिसका लहूं ना पारा वार।

स्मरण से होते अघ नाशनहार, श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥३॥

संघ की करी सदा प्रतिपाल, चतुतीर्थ कर गये निहाल।

वंदोपद पंकज गुणमाल, श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥४॥

भारत के संघ मुनिराज, बीच शोभित होवे ज्यू मृगराज।

ध्यान कर लीना हैं आज, श्री आचार्य सोहनलालजी के ॥५॥

जब थे अमृतसर मंझार, सदा वसंत खिलाजार।

प्रातः व्याख्यान के बाद में पढ़ने का स्तवन ।

षट् द्रव्य भिन्न २ कहा जिनवर आगम सुनत व्याख्यान ।
पंचास्ति काया नव पदार्थ पंच भाख्या ज्ञान ।
चरित्र तेरह कहा जिनवर ज्ञान दर्शन प्रधान ।
जो शास्त्र नित्य सुनो भव्य जन आन शुद्ध मन ध्यान ।
चौबीस तीर्थंकर लोक माही तरन तारन जहाज ।
नव वासु नव प्रति वासुदेव बारह चक्रवर्त्ती जान ।
चार देशना दी श्री जिनवर किया जो पर उपकार ।
पांच अणुव्रत चार शिक्षा तीन गुण व्रत धार ।
पाच सवर जिनेश्वर भाख्या दया धर्म प्रधान ।
और कहा लग करूं वर्णन तीन लोक प्रमाण ।
सुनत पाप विनाश जायें पायें पद निर्वाण ।
देव वैमानिम माहे पदवी कहिए जो पच प्रधान ।
विघ्न हरण मगल करण धन्य श्री जैन धर्म ।
जिन सिमरिया पातक टले दूरे आठों कर्म ।
धन्य साधु धन्य साध्वि धन्य श्री जैन धर्म ।
जिन सिमरियां सकट टले टूटे आठों कर्म ।

मध्याह्न के व्याख्यान के पश्चात्—पढ़ने का स्तवन ।

तीर्थ कर्त्ता दु ख हर्त्ता इन्द्र सारे सेव हैं ।
त्रैलोक्या स्वामी मोक्ष गामी सो हमारे देव हैं ।
महाव्रत धारी आत्मातारी जीव षट् प्रति पालता ।
गुरु देन मोटा लिया जो ओटा दुख सगले टालता ।
सब जीव रक्षा यही परीक्षा धर्म जिनकी मानिये ।

श्री गोतम स्वामीजी का मंत्र ।

ॐ नमो भगवओ गोयमस्स सामिस्स सिद्धस्स बुद्धस्य अखीण महाणस्स अणाय २ पूरयमम चिंतिय सफलं कुरु २ ऋद्धि वृद्धि सुख सोभाग्य तुष्टि पुष्टि जय विजयं कुरु २ स्वाहा ।

गुरू मंत्र ।

ॐ णमो सव्व सिद्धण सव्व धम्म देवाणं सव्व वुद्धाण असि आउसा अर्हन् नमः स्वाहा । विधि—गुप्त है गुरुमुख से धारण करे ।

सर्व भय निवार्ण का मंत्र ।

पिसो भगवाअरहा सम्म सवुद्धो विज्जाचरण सपन्नो सुगतो लोक विन्दु अनुत्तरो पुरुषदम सारथीसात्थादेवाना च मानवाना च वुधो भगवाजय धम्मा हेतु प्रभावाते सा तथागतो अवचते । साचयो निरोधो एव वादी महासमणो, महासमणो ।

अर्थ विधि—अनेन मन्त्रेण २१ वार जपित्वो उपरि तन वस्त्रं चले ग्रन्थी वंधये तारणे सर्व शास्त्रा शस्त्र निवारणी जप तो वधन, मुक्त कारणे चौर प्रवहण वुडन रायसिंह व्याघ सर्पादि सर्वो द्रव वारण पटति सिद्धोयं मन्त्र' दृष्ट प्रत्यय प्राप्ति ।

विजय मंत्र ।

ॐ नमो पद्मावति पद्म नेत्रे पद्मासने लक्ष्मी दायिनी वाञ्छापूर्णी-जप कुरु २ सिद्धि कुरु २ ऋद्धि राजा प्रजा मोहे मोहे स्वाहा ।

विधि —२१ वार पाठ कीजे भगडे विजय होय कार्य सिद्धि होई १०८ नित्य जापे प्रात काल में सूर्य उदय होने से पहले ।

भविष्य ज्ञान का मंत्र ।

ॐ नमो सामस्र के पक्षिणी स्वाहा ।

रोगास्तत्र प्रणश्यन्ति, यत्र पिच्छ कर्णाम्बया ॥२॥
तत्र राज्य भयं नास्ति, यांति कर्णं जपान्तये ।
शाकिनी भूत वैताला राक्षसा परा भवन्ति ॥३॥
ना काले मरण तस्य न च सर्पेण दृश्यते ।
अग्नि चौर भय नास्ति, ॐ ह्रीं श्रीं क्ष्मीं क्लूं रौं ।
ॐ घंटा कर्णो नमः स्तुते ठ ठ ठः स्वाहा ॥४॥

विधि.—प्रतिदिन प्रातःकाल लाल चन्दन की माला एक से इस स्तोत्र का पाठ शुक्ल पद में रिक्त तिथी को छोड़के प्रारम्भ करना यदि माला जाप का समय न मिले तो ७ बार उत्तर दिशा में मुख करके साधक आवश्यमेव पढ़ें ॥

श्री जिनेन्द्र स्तुति ।

जपंता जिनेन्द्र सभी विघ्न नाशे, जपंता जिनेन्द्र आनंद प्रकाशे ।
जपंता जिनेन्द्र सभी सिद्ध कामं, जपंता जिनेन्द्र लहो मुक्ति ठामं ॥१॥
जपंता जिनेन्द्र सभी रोग भागे, जपंता जिनेन्द्र सदा ज्योति जागे ।
जपंता जिनेन्द्र महा कष्ट चूरे, जपंता जिनेन्द्र महा दुःख दूरे ॥२॥
जपंता जिनेन्द्र मिटे हैं उदासी, जपंता जिनेन्द्र कटे कर्म फांसी ।
जपंता जिनेन्द्र मिले इष्ट योग, जपंता जिनेन्द्र अनिष्ट वियोग ॥३॥
नमूं श्री जिनेन्द्र महा शांतिकारी, सभी ज्ञान धारी अज्ञान परिहारी ।
नमूं तीर्थ नाथं महामति आवें, मिथ्यात्व मिटे दुर्मति दूर जावे ॥४॥
भजो वीतरागं तजो द्वेष राग, करो साधु सेवा लहोमोक्ष मार्ग ।
भजो वीतराग त्रियोग त्रि करण, मिटे रोग शोकं जरा जन्म मरण ॥५॥
सम्यग्दृष्टि धारी कुदृष्टि विहारी, सभी कर्म का मैल दूर उतारी ।
नहीं मुक्ति दाता विना वीतराग, नहीं तारसी देव जो है सराग ॥६॥

प्रभु भक्ति भारी हृदय में बसी है दूजा देव से प्रीति दूर नसी है।
यही विनती करूं हाथ जोरे, तुम्हारी सदा भक्ति होवे कंठ धारे ॥७॥
प्रभु नाम लीजे सदा ही प्रभाते निराधार आधार है तीर्थनाथं।
सदा पावे वन्दु मैं थारी शरण आया स्वामी मम मेटो दुःखों के ज्ञान पाव ॥८॥

श्री महावीर स्वामी चरित्र चौपाई।

सिमरूं आदि जिनेश्वर स्वामी, पद १ के प्रभु अन्तर्यामी।
सुर नर मुनि जय रटे गुरु ज्ञानी तुम्हीं रक्षक जगत के शिवके गामी।
दोहा—चौबीसवें जिनराज श्री महावीर भगवान्।
जिनका मैं वर्णन करूं, मुझे उत्तम कर ज्ञान॥
श्री अरिहंत देव को वन्दु बारंबार, श्री गुरु पद का करूं सुधार॥
जो कुछ सुना महात्माओं से उसमें कुछ ज्ञान।
कविवर वर्णन करूं सुनो सबै धर जिय ध्यान॥
शिव पुर मार्ग प्रगट किया श्री महावीर स्वामी ने।
जन्म भूमि प्रभुजी की कुण्डल पुर राजधानी।
ज्ञात वंशी क्षत्रिय व गोत्री हुवे वर्द्धमान स्वामी।
पिता सिद्धार्थ नृप माता त्रिशला देवी रानी।
बड़े भ्राता नन्दी वर्द्धन जो थे महाराजा नामी।
उनसे बढ़कर आप हुवे शूरवीर घोर ज्ञानी।
ज्ञान से विचार स्वामी झूठा समझा जगत फानी।
शिव आत्मानन्द के स्वाद लिया तब धर्म वीर स्वामी ने ॥१॥
माता पिता से अरज करें श्री महावीर।
झूठा है जगत दुनियां नन्दी वर्द्धन सुन वीर।
देवो मोहे आज्ञा करूं तपमें श्री महावीर।

पिता मात कहैं सुनियो पुत्र प्यारे वर्द्धमान।
अब तक जीवें हम करो गृहस्त ही में धर्म ध्यान।
यही आज्ञा है हमारी पालो श्रावक धर्म महान्।
यह क्या मन में विश्वास किया तजते हो रजधानी ने ॥२॥
माता पिता भ्राता जिनकी आज्ञा करी स्वीकार।
तीस वर्ष तक पाला श्रावक धर्म शुद्धाचार।
वर्षी दान देके फिर मुनिव्रत लिया धार।
कर्म अरि को काटने को काया से तजी है प्रीत।
बारह वर्ष तक अति कठिन परिषह जित।
एक सम समझे स्वामी शत्रु जन और मित्र।
फिर ब्रह्मज्ञान को पास किया उस दया धर्म दानी ने ॥३॥
केवल ज्ञान पाकर फिर दिया सत्य उपदेश।
सत्य प्रकाशने को विचारे हैं प्रभु देश विदेश।
हिंसा धर्म खण्डन कर दया कहते हमेश।
श्रावक धर्म मुनि धर्म भाषा श्री भगवान्।
षट् द्रव्य नव तत्त्वों का भिन्न २ भेद जान।
प्राणीयों के जानने को आगम किया व्याख्यान।
फिर सर्व सूत्रों पर भाषा किया सर्वज्ञ देव ज्ञानी ने ॥४॥
इन्द्रभूति अग्निभूति वायुभूति विगत जान।
सुधर्मा मंडीपुत्र मौर्यपुत्र अकपित सर्व पंडित जान।
अचल भ्राता और मैतार्य प्रभास सर्व व्रतमान।
ग्यारह हीने वीर जी से चर्चा करमानी हार।
छोड़कर गृहस्त फिर मुनि धर्म लिया धार।

सर्व रक्षा मंत्र ।

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ऋषभशाति धृति कीर्ति काति बुद्धि लक्ष्मी ह्रीं अप्रति चक्रीफट् चक्राय सहाय सत्य उपासत्य सर्व कार्य करी प्रभादेवी अपाराजितु गूंठा ऊठा कर राज्य कलिफ वादेई झगड़ादिखुस्मरयति, ॐ ह्रीं खु चक्रेश्वरी तुम ममरक्षा कुरू कुरू सहाय अचल यति बनखड रीखराय चरण बच्छेसहाय, नाखेचीण वहिनेचीण दहिणेचीण आगे पीछे होये, अचल यतिके ध्यावने विघ्न व्यापेन कोई ।

विधि—इसको त्रिकाल २७ पढना सर्व प्रकार से रक्षा होवे ।

प्रातः काल उठने से पूर्व मंत्र

श्री महावीर पहुचे निर्वाण, श्री गौतम स्वामी पायों केवल ज्ञान ।
अशुभ हरण शुभ करण श्री शातिनाथ जी ।
शाति करो श्री शातिनाथ, सकट टालो श्री पार्श्वनाथ ।

रात्रि सुते समय जपने का मंत्र

ॐ असि अउसाय नम अरिहंत भगवन्त सिद्ध साहु पारके निवाहु मैं ध्यान धरु तोरा तु पाप काट मोरा ॥

श्री मुनीमीशहिं नमामि, धर्मचन्द्र चद्रादिप्रभू जितं च ।
आदींश्वर नित्य चिलु, तपक श्री वर्द्ध मान भुवने प्रसिध्दं ॥१॥
कु थु कलाधार मुनीशमे वंशाति च सद्धया न युत नरेश ।
मनतमाचार गुणेरनतसुपार्श्व दैवंच सुवर्ण काय ॥२॥
सुपोत तुल्य सुमति भवाब्धौपार्श्व जनाधार महिंद्र पूज्य ।
नेमिमहिन जितमन्मथ च, श्री सुव्रतं सुव्रत मेवनित्यं ॥३॥
त्रिलोकनाथ विमल जिनेशपद्म प्रभु शुक्ल गुणे विलीन ।
प्रबोधकंचऽऽमिनंदनं चविशोभित सभवनामधेयं ॥४॥
नमामिनित्यं नमिऽऽत्म शक्तया श्री मल्लिनाथ जिन माप्त मोक्षम् ।
श्री वासु पूज्यम्सुविदीप तुल्य श्री शीतला सौख्यद मेव शान्त ॥५॥
ससार सार सुविधि सुवीर शङ्कार कयेअजितं विख्यातम् ।
तथैव पचाधिक विंशतिश्वर अरिच श्री श्रेयासजिन गुणाढ्य ॥६॥
पंचाधिकंपष्टे समुद्भवच यत्रजिनानाहि सुनामध्येयै ।
ह्रींकार रूपंविशद पवित्रं लिख्यच्च तुच्चदि तथैवतस्य ॥७॥
ईद प्रधान पठत जनोय स्तोत्र हिसस्यैव सदानिधान माधार ।
भूतहि प्रमाथिनीपुविसत्सु देवेंद्रप्रपूजितञ्च ॥८॥
अनेन यंत्रेण धन प्रकीर्ण लमति नित्य मनुजा शुभक्तया ।
श्री वर्ध्दमान स्यगुणेप्रशादऽऽत्पुमसेनेन कृत्त विशुद्धी ॥६॥

卐 श्री जैन आरती 卐

तर्ज—जय जिन अरिहंत प्रभु !

जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा,
दास तुम्हारे खडे द्वारे पार करो सेवा ।

६५ यन्त्र ।

ॐ	ऐं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं
ॐ	१५ अ	८ सि	१ आ	२४ उ	१७ सा	ॐ
ॐ	१६ सि	१४ आ	७ उ	५ सा	२३ अ	ॐ
ॐ	२२ उ	२० सा	१३ अ	६ सि	४ आ	ॐ
ॐ	३ आ	२१ उ	१९ सा	१२ अ	१० सि	ॐ
ॐ	९ सा	२ अ	२५ सि	१८ आ	११ उ	ॐ
श्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ऐं

पैंसठिया स्तोत्र ।

श्री मुनीमीशंहिं नमामि, धर्मचन्द्र चद्रादिप्रभू जितं च ।
श्रादीश्वरं नित्य बिलु, प्तपक श्री वर्द्ध मान भुवने प्रसिध्द ॥१॥
कु थु कलाधार भुनीशमे वंशाति च सद्व्या न युत नरेश ।
मनतमाचार गुणैरनंतसुपार्श्व देवच सुवर्ण काय ॥२॥
सुपोत तुल्य सुमति भवाब्धौपार्श्व जनाधार महिंद्र पूज्य ।
नेमिमह्नि जितमन्मथ च, श्री सुव्रत सुव्रत मेवनित्य ॥३॥
त्रिलोकनाथं विमल जिनेशपद्म प्रभु शुक्ल गुणे विलीन ।
प्रबोधकचऽऽभिनदनं चविशोभित समवनामवेय ॥४॥
नमामिनित्यं नमिऽऽत्म शक्त्या श्री मल्लिनाथ जिन माप्त मोक्षम् ।
श्री वासु पूज्यम्सुविदीप तुल्य श्री शीत्तल सौख्यद मेव शान्त ॥५॥
ससार सार सुविधिं सुवीर शङ्कार कंथेश्वजितं विख्यातम् ।
तथैव पचाधिक विंशतिश्वर अरिच श्री श्रेयासजिन गुणाढ्य ॥६॥
पंचाधिकषष्टे समुद्भवच यन्त्रजिनानाहि सुनामध्येयै ।
ह्रींकार रूपंविशद पवित्रं लिख्यच्च तुच्चदि तथैवतस्य ॥७॥
इद प्रधान पठत जनोय स्तोत्र हिसस्यैष सदानिधान माधार ।
भूतंहि प्रमाथिनीपुविसत्सु देवेंद्रप्रपूजितञ्च ॥८॥
अनेन यन्त्रेण धन प्रकीर्णं लभति नित्य मनुजा शुभक्त्या ।
श्री वर्द्धमान स्यगुरोप्रशादऽऽहष्पुग्रसेनेन कृत्त विशुद्धी ॥९॥

卐 श्री जैन आरती 卐

तर्ज—जय जिन अरिहत प्रभु ?

जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा,
दास तुम्हारे खडे द्वारे पार करो खेवा ।

ॐ जय जिनवर देवा, स्वामी जय जिनवर देवा ॥१॥

पतित उधारण मंगल कारण तारण सुखकारी,
विपद विदारण विघ्न निवारण केवल मनधारी ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥२॥

जो जन ध्यावें शिव सुख पावें बिगरे काज सरें
जन्म मरण भय हरें टरें दुख मुक्ति राज वरें ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥३॥

परिहित पूर्ण अघहर करुण अभिनव अवतारी,
पाप ताप संताप मिटाती दुर्गति दुखहारी ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥४॥

शरणागत प्रतिपाल दयालु शरण गही तेरी ।
कर करुणा सेवक पर स्वामी काटो भव फेरी ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥५॥

शुद्ध बुद्ध वर वीर हरीश्वर जगदीश्वर स्वामी
भक्तों के आधार तुम्हीं हो नित अंतर्यामी ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥६॥

अचल अखंड महा महिमा मय अजर अमर नामी ।
तीर्थंकर क्षेमंकर शंकर आत्म विरामी ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥७॥

सुर नर साधक ध्यान धारक गुण गण आगारा
"अमृत" चरण शरण गह तेरी चाहे शिव द्वारा ।

ॐ जय जिनवर देवा स्वामी जय जिनवर देवा ॥८॥

श्री जिन शासन पुष्पोद्यान के सदस्यों की नामावली

शम्भूमल टकचन्द रोहतक मंडी

धनतराय तेलुराम नरवालिया कैथल (करनाल)

भागमल कस्तूरीलाल जाखल मण्डी (हिसार)

हरीश्चन्द्र जैन रोहतक मंडी

कालूराम भूरामल कालानौर (रोहतक)

मित्रसैन नोनिहालसिंह जैन भिवानी ।

रामजीलाल गोपीचन्द्र जैन तोसाम (हिसार)

घसीराम भगवानदास जैन सुलतानपुर लोधी (पैप्सू)

तेलूराम वस्ता भक्त जैन रतिया (हिसार)

बनवारीलाल केशोराम जैन रतिया (हिसार)

चश्मीमल प्यारालाल जैन रतिया (हिसार)

मोलखीराम बिहारीलाल जैन रतिया (हिसार)

मत्तगराम रूपचन्द्र जैन रतिया (हिसार)

श्री जिन शासन पुष्पोद्यान के पुष्प

श्री जिनेश्वरानुपूर्वि	।)
महाचत्कारी पैसठिया स्तौत्र विधि	।)
पंच परमेष्टि दिग्दर्शन प्रथम	।)
पंच परमेष्टि दिग्दर्शन दूसरा भाग	=)
श्री वीर चारित्र	।=)
धर्म वाणी	।=)
श्री देव वाणी	१।)

प्राप्ति स्थान ।

र्भ जिनशासनपुष्पोद्यान-

मंत्री–गणीचन्द्र जैन टाईप स्कूल

चिचड़ा बाज़ार सिवानी (हिसार)

मास्टर

सुमित्रा ...